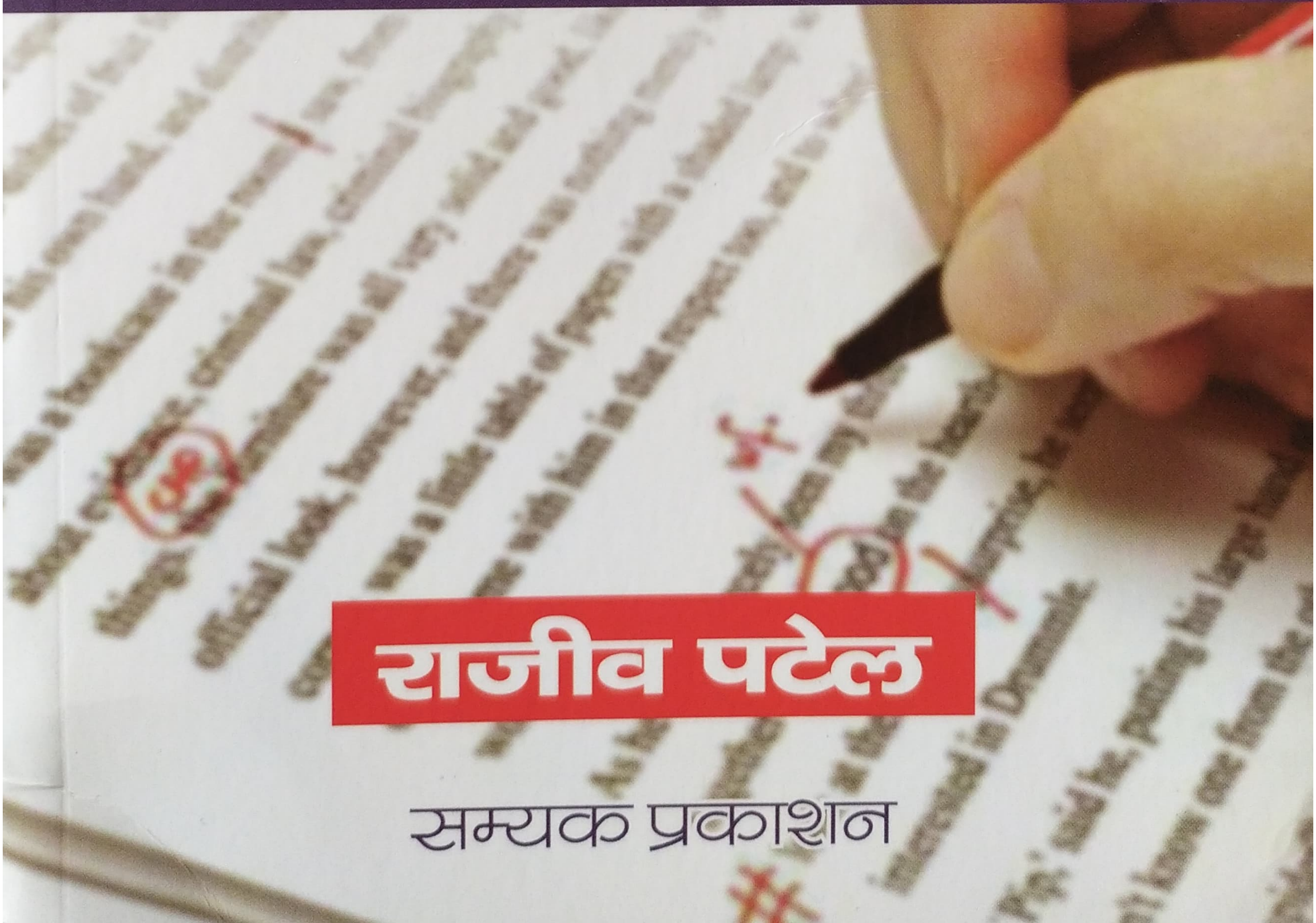


भ्रम का पुलिंदा



राजीव पटेल

सम्यक प्रकाशन

भ्रम का पुलिंदा

लेखक

राजीव पटेल

𑀮𑁂𑀔𑀓 : 𑀭𑀸𑀚𑀻𑀯 𑀧𑀝𑁂𑀮

सह-लेखक

संजय कुमार सिंह

𑀲𑀳 𑀮𑁂𑀔𑀓 : 𑀲𑀁𑀚𑀬 𑀓𑀼𑀫𑀸𑀭 𑀲𑀺𑀁𑀳

सम्यक प्रकाशन

प्रथम संस्करण : 2021 (बुद्धाब्द 2565)
द्वितीय संस्करण : 2021 (बुद्धाब्द 2566)

ISBN : 978-93-91503-14-7

प्रकाशक : **सम्यक प्रकाशन**
32/3, पश्चिमपुरी, नई दिल्ली—110063
दूरभाष : 9810249452, 9818390161
Email : hellosamyak1965@gmail.com
Web : www.samyakprakashan.in

मूल्य : 250 रुपये

रचना : **भ्रम का पुलिंदा**
रचनाकार : राजीव पटेल
शब्दांकन : संदीप आर्ट एण्ड ग्राफिक्स

मुद्रक : बालाजी ऑफसेट प्रिंटर्स, नई दिल्ली

लेखक की कलम से...

भ्रम का पुलिंदा बनाने वाले भ्रमवादी गिरोह के मुखिया ने सबसे पहले सम्यक संस्कृति के पालि भाषा में प्रयुक्त होने वाले शब्दों, जिनका भावार्थ सम्यक काल में गुणवाचक संज्ञा होता था, उन सभी गुणवाचक शब्दों को सम्यक अंत काल में व्यक्तिवाचक संज्ञा और जातिवाचक संज्ञा के रूप में प्रत्यारोपण (Implant) कर दिया है। जिसके परिणामस्वरूप आज उन शब्दों का सारा स्वरूप ही बदल गया है। जैसे सम्यक काल में धर्म का अर्थ कुदरत का कानून (Law of Nature) होता था, लेकिन सम्यक अंत काल में धर्म का अर्थ एक समुदाय विशेष द्वारा किया जाने वाला कर्मकाण्ड से होने लगा है। आज हर लोगों की मान्यता अनुसार धर्म का स्वरूप यही है। उसी प्रकार सम्यक काल में सभी विद्वानों को बम्हन, सभी खेती करने वालों को खत्तिय, सभी गाय पालने वालों को गो-पालक जैसे गुणवाचक संज्ञा नाम से संबोधन किया जाता था, जो भ्रमवाद के उदय बाद से यह गुणवाचक संज्ञा नाम, एक समूह विशेष को जातिवाचक नाम के रूप में दे दिया गया। सम्यक संस्कृति में भगवान, देव, इसिवर गुणों के आधार पर दिया जाने वाला गुणवाचक उपाधी नाम था, जो सम्यक अंत काल में व्यक्तिवाचक संज्ञा नाम बनकर रह गया। सम्यक संस्कृति में पूजा गुण-आदर्श के अनुसरण को कहा जाता था, जो सम्यक अंत काल में होने वाली पूजा, व्यक्ति विशेष के नाम पर दीप, हवन, प्रार्थना से जुड़कर रह गया है।

सबसे बड़ी बात यह है कि सम्यक संस्कृति की धम्म लिपि (ब्राह्मी लिपि) में जो वर्णमाला है, उस वर्णमाला द्वारा संस्कृत भाषा का व्याकरण (पाणिनि), संस्कृत भाषा में चाणक्य नीति, संस्कृत भाषा में कालीदास का नाटक या संस्कृत भाषा का कोई श्लोक लिखा ही नहीं जा सकता है, यहां तक की खुद संस्कृत भी नहीं लिखा जा सकता है। फिर भी भ्रम वंश के लेखक द्वारा ऐसा सैकड़ों जगह लिखकर भ्रम का पुलिंदा फैलाया गया है। जो उचित नहीं जान पड़ता है। क्योंकि धम्म लिपि की वर्णमाला में ऋ,

अः, औ, (श, ष ईसा से पूर्व), क्ष, त्र, ज्ञ अक्षर नहीं हैं। साथ में हलन्त, चन्द्रबिन्दु, विशर्ग और र का संयुक्त प्रयोग नहीं है या कहें तो इन सबों का अविष्कार नहीं हुआ था। जिस वजह से संस्कृत का कृ भी नहीं लिखा जा सकता है। फिर भी ऐसे भ्रम को दूर करने हेतु आज तक कोई भी भ्रमिक वंश का व्यक्ति मूल अभिलेख को लेकर सामने नहीं आया है और पुरातात्विक विभाग ने भी इस भ्रम को दूर करने हेतु कोई मूल अभिलेख को प्रदर्शित नहीं किया है। इसके बाद भी कलम कसाई द्वारा बार-बार ऐसा लिखकर अपना भोंडा प्रदर्शन करना अच्छा लगता है।

लेखक ने इस पुस्तक के माध्यम से इसी सब सच्चाई को दिखाने का प्रयास किया है।

राजीव पटेल/[illegible]

विषय सूची

लेखक की कलम से... .... *3*

भारत की मूल सभ्यता और संस्कृति 7
आद्य-इतिहास (Proto-history).. 13
ऐतिहासिक काल (Historical Period) 19
ऐतिहासिक काल.. 21
गौतम बुद्ध का काल.. 23
पाणिनि 27
चाणक्य.. 34
सातवाहन 44
भरहुत स्तूप.. 47
कालीदास 56
गुप्त काल को स्वर्ण काल कहा जाता है, ऐसे क्यों? 71
सांकेतिक मूर्ति की बनावट और सांकेतिक भाषा का उदय 93
भाषा और लिपि का क्रमिक विकास 106
सम्यक संस्कृति के शब्द व भाव का अपहरण..115
भगवान/भगवा (𑀪𑀕𑀯) 116
देव (𑀤𑁂𑀯) 118
ईश्वर/इसिवर (𑀇𑀲𑀺𑀯𑀭)..122
“सरस्वती या सुरसती” (𑀲𑀼𑀭𑀲𑀢𑀻) 125
पितृ पक्ष और दुर्गा पूजा..126
‘सनातन’..128
धर्म/धम्म (𑀥𑀫𑁆𑀫)..131

अध्यात्म 134
आत्मा 135
पूजा 136
जम्बू दीप (𑀚𑀁𑀩𑀼𑀤𑀻𑀧) 138
देवानाम प्रिये (देवानाम पिय 𑀤𑁂𑀯𑀸𑀦𑀁𑀧𑀺𑀬) 139
हिद (𑀳𑀺𑀤) 142
आर्य और अनार्य 143
भारत की संस्कृति में ब्राह्मणवाद का उदय 143
भारत में ब्राह्मणी व्यवस्था और उसके ग्रंथों का उद्भवकाल 153
आर्य-अनार्य का बनना 169
निष्कर्ष 175

भारत की मूल सभ्यता और संस्कृति

भारत में मानव सभ्यता का उद्भव प्रामाणिक तौर पर पाषाण काल से मिलता है। वैसे उस सभ्यता का कोई लिखित प्रमाण नहीं है, फिर भी उस समय मानव होने का काफी प्रमाण वर्तमान समय में उपस्थित है, जिसे कोई भी अपनी आंखों से देखकर मानव होने का अहसास कर सकता है। लिखा हुआ कुछ नहीं मिलने की वजह से इसे प्रागैतिहासिक (Prehistory) काल का इतिहास कहते हैं। पाषाण युग वह युग है जब मानव पत्थरों के सहारे अपना जीवन व्यतीत करता था, जैसे पत्थरों के बने गुफा में रहना, पत्थरों के बने औजार से जानवरों का शिकार करना, पत्थरों को टकराकर आग पैदा करना। पाषाण काल को विस्तार से समझने के लिए इसे भी तीन श्रेणी में बांटकर समझते हैं और इस पाषाण सभ्यता के विकास क्रम को देखते हैं।

1. पुरा-पाषाण काल
2. मध्य-पाषाण काल
3. नव-पाषाण काल

पहला पुरापाषाण काल अर्थात पाषाण युग के पूर्व का काल—प्रागैतिहासिक युग का वह समय था जब होमोसेपियन (आधुनिक मानव) के उदय और उसका आरंभिक विकास हुआ। इस समय मानव ने जानवरों के शिकार हेतु नुकीले पत्थर को औजार के रूप में उपयोग करना सबसे पहले आरम्भ किया। इस दौरान मानव बनने का क्रमिक विकास हो रहा था। इस काल के वाद से मध्यपाषाण युग का प्रारंभ हुआ।

भारत में पुरापाषाण काल के अवशेष इलाहाबाद की बेलन घाटी, वर्तमान पाकिस्तान की सोहन घाटी, तमिलनाडु के कुरनूल, कर्नाटक के हुंस्गी, ओडिशा के कुलिआना, राजस्थान के डीडवाना के श्रृंगी तालाब के निकट और मध्य प्रदेश के भीमबेटका और छत्तीसगढ़ के रायगढ़ जिले के सिंघनपुर में भी मिलते हैं। इन अवशेषों की संख्या मध्यपाषाण काल के प्राप्त अवशेषों से बहुत कम है।

इस काल को जलवायु परिवर्तन तथा उस समय के पत्थर के हथियारों तथा औजारों के प्रकार के आधार पर निम्न तीन भागों में विभाजित किया गया है–

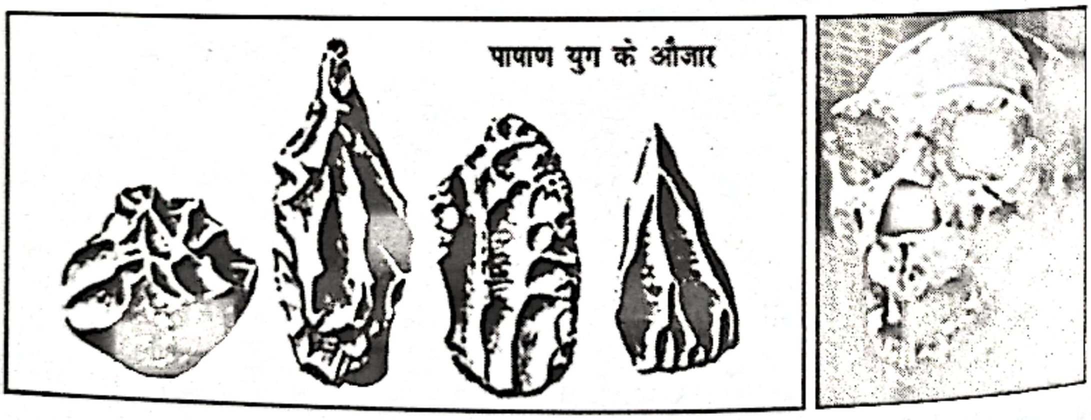
(क) निम्नपुरापाषाण काल

(ख) मध्यपुरापाषाण काल

(ग) उत्तर या उच्चपुरापाषाण काल

क. निम्नपुरापाषाण–इस समय मनुष्य पत्थरों से निर्मित औजार का प्रयोग करते थे। जैसे–हस्तकुठार, खण्डक, विदारणी। अधिकांश पुरापाषाण युग हिम युग से गूजरा है। निम्नपुरापाषाण स्थल भारतीय उपमहाद्वीप के लगभग सभी क्षेत्रों में प्राप्त होते हैं, जिनमें सोहन नदी की घाटी, सिंधु घाटी, बेलन घाटी और नर्मदा घाटी प्रमुख हैं।

ख. मध्यपुरापाषाण काल–मध्यपुरापाषाण काल में शल्क उपकरणों का प्रयोग बढ़ गया। मुख्य औजार के रूप में पत्थर की पपड़ियों से बने विभिन्न प्रकार के फलक, वेधनी, छेदनी और खुरचनी मिलते हैं। पुरातत्व विभाग को वेधनियां और फलक जैसे हथियार भारी मात्रा में मिले हैं।



पत्थर के औजार और नरकंकाल का चित्र

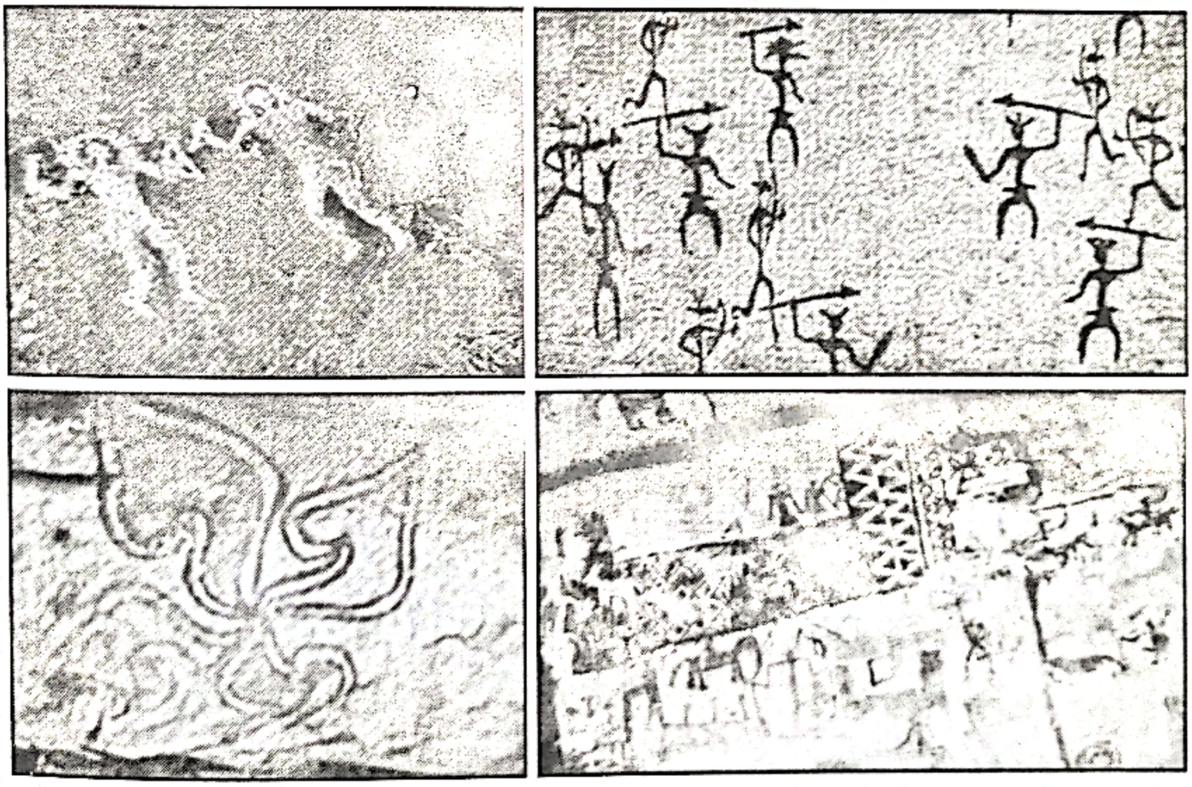
ग. उच्चपुरापाषाण काल–इस काल में आद्रता कम हो गयी थी तथा हिमयुग की अंतिम अवस्था थी। इस काल के औजार अधिक तेज व चमकीले थे। ये औजार हमें आंध्र, कर्नाटक, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, दक्षिणी उत्तर प्रदेश और बिहार के पठारों में मिले हैं।

दूसरा, **मध्यपाषाण काल**–मनुष्य के विकास का वह अध्याय है जो पुरापाषाण काल और नवपाषाण काल के मध्य में आता है। कुछ विद्वान इस काल को 40,000 वर्ष ई.पू. से लेकर 10,000 वर्ष ई.पू. तक मानते हैं।

तीसरा, नवपाषाण काल–मानव प्रौद्योगिकी के विकास की एक अवधि थी जिसकी शुरुआत मध्य पूर्व में 8-10 हजार वर्ष ई.पू. के आसपास हुई थी, जिसे पारंपरिक रूप से पाषाण युग का अंतिम हिस्सा माना जाता है।

नव-पाषाण काल में शैल चित्र का निर्माण होने लगा था, जो आज पहाड़ी क्षेत्रों की गुफाओं में काफी मिलता है। लेकिन आज के कुछ ज्यादा ही स्वार्थी भ्रमशील इतिहासकार हैं जो उस प्रकार के बने चित्रों को किसी मान्यता से जोड़कर परिभाषित करने का दिन-रात प्रयास करते रहते हैं। इस प्रकार के प्रयासों को आप कितना उचित और कितना अनुचित कहेंगे वह स्वयं तय करें!

मध्य प्रदेश का भीमबेटका और देउरकोठार (देव कोठार) की पहाड़ी गुफा में मिलने वाले कुछ चित्रों को रख रहा हूं, उसे देखकर आप लोग स्वयं अनुभव करें कि पाषाणकालीन युग में गुफा में रहने वाला मानव अगर कोई चित्रकारी करता था तो क्या वह आज के भ्रमशीलों के काल्पनिक कथा पात्र राम, सीता, कृष्ण और अर्जुन के सभ्यता वाला पात्र का सदस्य बन जाएगा?



शैल चित्र को

इस शैल चित्र पर भ्रमशीलों की मान्यता को एक कहानी के माध्यम से समझें।

एक बहुत ही न्यायप्रिय प्रतापी राजा हुआ करते थे। उनके दरबार में जब किसी भी प्रकार का जटिल विवाद आता था तो उसे वे अपने अनुभव

से चुटकी बजा कर सुलझा देते थे। एक समय की बात है कि राजा के दरबार में चार व्यक्तियों ने एक गोलाकार पत्थर पर अपना-अपना आधिपत्य जताते हुए राज दरबार में प्रवेश किया और दरबार में राजा से आग्रह किया कि महाराज हमारे विवाद को सुलझाएं। आखिर इस पत्थर पर किसका अधिकार होना चाहिए?

राजा ने पहले उस पत्थर को बहुत ही गौर से देखा, लेकिन उस पर कहीं भी किसी लिपि में कुछ लिखा हुआ मिल नहीं रहा था और न ही उस पत्थर का कोई खास स्वरूप ही बना था, जिससे फैसला करने में कोई सहारा मिलता। राजा थोड़ा चिन्तित हुआ, फिर भी इस समस्या को सुलझाने में तल्लीन था। क्योंकि राजा अपने न्याय प्रिय होने वाली उपाधि को खोना नहीं चाहता था। तभी राजा के दिमाग में एक बात कौंधी कि क्यों नहीं इन सबों के अन्दर व्याप्त वैचारिक ज्ञान का लगाव क्षेत्र की जानकारी ली जाए! इस नाते राजा ने सभी का परिचय पूछा। चारों फरियादी ने बारी बारी से अपना परिचय बताने का क्रम शुरू किया। जिसमें पहले ने अपने आपको सुनार बताया तो दूसरे ने अपने को सुतार (लकड़ी का मिस्त्री), तीसरे ने शिल्पकार और चौथे ने कथाकार के रूप में अपना परिचय दिया।

अब राजा को सारा माजरा समझ में आने लगा कि यहां चारों व्यक्तियों को पत्थर के वारिस बनने का झगड़ा नहीं है, बल्कि चारों के अन्दर अपनी अपनी वैचारिक आसक्ति की वजह से पत्थर के स्वरूप पर अपना अधिकार जमाने की लड़ाई है। इसी वजह से सुनार सोच रहा है कि यह पत्थर सोना की कसौटी है, सुतार सोच रहा है कि यह पत्थर मेरे औजार का धार देने वाला सिलबट्टा है तो शिल्पीकार सोच रहा होगा कि यह पत्थर जिस पदार्थ से बना है उससे मेरी मूर्ति का निर्माण बेहतर होगा, तो कथाकार समझ रहा है कि यह पत्थर नहीं, बल्कि यह मेरे कथा वाले पात्र शालीग्राम महादेव जी हैं।

राजा ने सारे माजरे को भांपते हुए दरबार में तुरन्त एक हाथी और चार अंधे व्यक्तियों को उपस्थित करने का आदेश दिया। राजा के आदेश अनुसार हाथी और चार अंधे व्यक्तियों को दरबार में प्रस्तुत किया गया। अब राजा ने दरबार में पूर्व वाले पत्थर के विवाद को सुलझाने हेतु हाथी को दरबार में बीचो-बीच बंधवा दिया। अब उन चारों अंधे व्यक्तियों से राजा पूछता है कि आप लोग बताओ कि दरबार के बीच में क्या रखा है?

चारों अन्धे व्यक्ति बारी-बारी से बीच में बंधे हाथी के पास जाने की तैयारी करने लगते हैं, ताकि राजा को बता सकें कि दरबार में क्या रखा है। पहले वाला अंधा व्यक्ति हाथी को स्पर्श करता है, लेकिन संयोग से उसे हाथी के अंग पैर का स्पर्श होता है। वह पैर को भली प्रकार से टटोल कर आश्वस्त होता है और अंत में राजा को बताता है कि महाराज यह कोई पेड़ का तना लग रहा है। अब दूसरे अंधे ने भी उसी प्रकार हाथी का अंग स्पर्श किया, लेकिन संयोग से उसको हाथी का सूंड़ पकड़ में आ जाता है। वह भी सूंड़ का बहुत अच्छे से मुआयना करता है फिर महाराज से कहता है कि यह तो सूंड़नुमा कोई पाइप लगता है। तीसरे अंधे की बारी थी, वह भी हाथी के पास जाकर उसके अंगों को स्पर्श करता है, लेकिन इसके संयोग में हाथी की पूंछ आना थी, उसने हाथी के पूंछ को पकड़-पकड़कर खूब जांचा और उसके बाद महाराज से कहता है कि महाराज यह तो झाड़ूनुमा कोई वस्तु है। पत्थर वाले फरियादी भी इस घटना को गौर से देख-सुन रहे थे। अब अंत में चौथे अंधे व्यक्ति को बताना था, वह बहुत ही असमंजस में था कि मेरे पहले तीन अंधे लोग गए और तीनों ने तीन प्रकार का उत्तर दिया, मेरा उत्तर क्या होगा? डरते डरते वह भी हाथी के पास गया और हाथी के अंगों को स्पर्श करने लगा, लेकिन संयोग से उसे हाथी का दांत पकड़ में आ गया। उसने हाथी के दांत को बहुत भली प्रकार से जांचने के बाद राजा को बताया कि महाराज यह तो बहुत ही चिकना-सा कोई खूंटा लगता है।

एक हाथी को टटोलकर चार अंधे व्यक्तियों द्वारा चार अलग-अलग प्रकार के उत्तर बताये जाने पर दरबार में सभी लोग आश्चर्यचकित थे। तभी राजा ने कहा कि आप लोगों के सामने दरबार में ये जो चार आंख के अंधे आए और आप लोगों के सामने साकार हाथी को स्पर्श करते हुए चारों ने जिस प्रकार से सच्चाई से अलग-अलग होना सुनिश्चित किया है, उसी प्रकार आप लोग भी इन्हीं चारों व्यक्तियों के जैसा अपने विवेक रूपी ज्ञान के अंधे होने की वजह से एक पत्थर को अपनी अंधी अनुभूति द्वारा अलग अलग बता रहें हैं। जबकि यह सच्चाई से कोसों दूर है। वस्तुतः जिस प्रकार से वह हाथी था, उसी प्रकार से यह भी किसी नदी का एक पत्थर है।

अब तो आप लोग इस कहानी द्वारा समझ गए होंगे कि यह शैल-चित्र भी पाषाण काल के रहे किसी कलाकार की अनुभूति की परिकल्पना मात्र हैं। इसका आज की मान्यता से कोई लेना-देना नहीं है।

ऐसे तो पाषाण सभ्यता की खोज अंग्रेजी सरकार द्वारा की गई है। अंग्रेजों के आने से पहले भारत के तथाकथित भ्रमिक ज्ञानी मनीषियों में किसी को भी पाषाण काल जैसी कोई सभ्यता की जानकारी नहीं थी। उसके पूर्व तो तथाकथित भ्रमिक ज्ञानियों ने अपने ग्रंथों के माध्यम से करोड़ों वर्ष पूर्व की सभ्यता का नाम सतयुग और द्वापर रखा था, जिसमें काफी विकसित संस्कृति और उड़न खटोला से चलने वाले लोगों का वर्णन है। भ्रमिक ज्ञानियो, तुम्हारे पूर्वजों के पास तो आग्नेयास्त्र, मिसाइल, संहारक चक्र, विशाल गदा से लैस सभ्यता वाले लोगों का वर्णन है, फिर वैसी संस्कृति की जगह पर गुफा में रहने वाली पाषाण सभ्यता का मिलान कैसे कर रहे हो? पाषाण काल के समय तो तन को ढकने हेतु वस्त्र का अविष्कार भी नहीं हुआ था, फिर उस चित्रकारी से सतयुग और द्वापर के पात्रों की युगलबन्दी करने वाले भ्रमशील ज्ञानीगणों आपके पूर्वज लोग कपड़ा कैसे पहनते थे?

पाषाण काल के बाद एक संस्कृति और मिलती है। इस सभ्यता की जानकारी 1826 ईस्वी में अंग्रेज अधिकारी चार्ल्स मैसेन द्वारा किसी कार्य करने के दौरान मिली थी, इसके बाद 1856 में कनिंघम ने इस सभ्यता के बारे में सर्वेक्षण किया। इस सभ्यता को लोग सिन्धु घाटी सभ्यता के नाम से जानते हैं। सिन्धु घाटी सभ्यता की विस्तार से खुदाई 1921 में शुरू हुई। सिंधु घाटी सभ्यता का क्षेत्र बहुत ही व्यापक था। सिंधु घाटी सभ्यता के अधीन अभी तक लगभग 1100 केंद्रों की पहचान करते हुए उत्खनन का कार्य हुआ है, जिसमें 1000 से ऊपर का केंद्र बिंदु वर्तमान भारत के क्षेत्रों में आता है।

इस सभ्यता का पूरा क्षेत्रफल संसार में अभी तक मिली सभी सभ्यताओं से बड़ा है। इसका क्षेत्र पुराने पंजाब से लेकर बलूचिस्तान तक, फिर आज के पंजाब, हरियाणा, राजस्थान, गुजरात और उत्तर प्रदेश तक फैला हुआ था। जिसमें जम्मू-कश्मीर का मांडा और पंजाब में रोपड़, बाड़ा, संघोल और हरियाणा का राखीगढ़ी, भीरदाना, बनावली, कुणाल, मिताथल और राजस्थान का कालीबंगा, तरखनवाला और गुजरात का लोथल, सुरकोतदा, रंगपुर, रोजदी, मालवाड़, देशलपुर, धोलावीरा, प्रभाष पाटन, भगतराव के साथ साथ उत्तर प्रदेश में आलमगीरपुर, बड़ागांव, अम्बखेड़ी, हुलास से काफी विकसित और नगरीय सभ्यता का साक्ष्य मिला है। इन नगरीय साक्ष्यों में

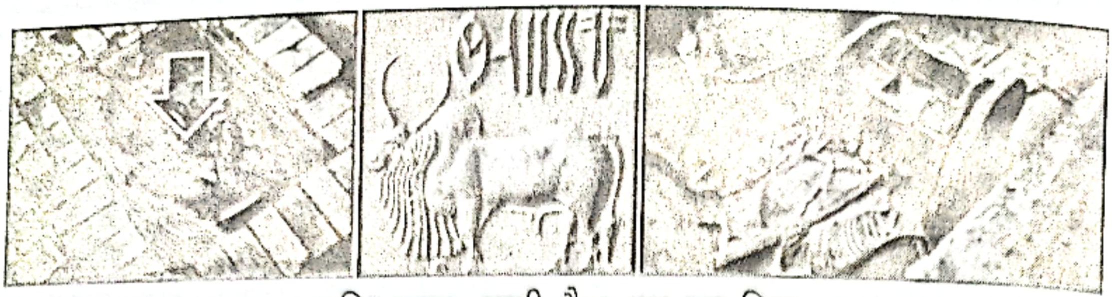
व्यवस्थित ढंग से साधारण मकानों का निर्माण देखने को मिलता है, लेकिन अधिकांश मकानों की बनावट कच्चे-पक्के ईंटों की मिली है। गलियों का निर्माण भी पक्की ईंटों का मिलता है, यानी कि शहरों का निर्माण बिल्कुल ही कुशल कारीगर द्वारा योजनाबद्ध तरीके से किया गया होगा, जो काफी उन्नत सभ्यता संस्कृति की ओर इशारा करता है।

आद्य-इतिहास (Proto-History)

उस सभ्यता की अपनी लिपि थी जिसका काफी साक्ष्य भी मिला है, लेकिन उस लिखावट को व्यवस्थित रूप से पूर्णरूपेण पढ़ने के सभी प्रयास अभी तक असफल रहे हैं। इसलिए सिन्धु घाटी सभ्यता का इतिहास **आद्य-इतिहास** (Proto-history) के नाम से जाना जाता है। फिर भी आज के भ्रमशील अनुयायी इतिहासकार उस समय के मिले चित्रों को द्वापर युग और त्रेतायुग से जोड़ते नहीं थकते हैं।

आइए, थोड़ा यहां भ्रमशीलो के दावों को देखा जाए। सिन्धु काल की सभ्यता पाषाण काल की सभ्यता से मिले प्रमाणों से काफी ज्यादा विकसित सभ्यता दिखती है। जैसा कि आप लोग ऊपर वर्णन भी देख चुके हैं। सिन्धु सभ्यता में लिखावट के काफी साक्ष्य मिले हैं, लेकिन इस लिखावट को आज तक कोई पढ़ नहीं पाया है। फिर भी भ्रमिकों का संगठित गिरोह पाषाण काल के मिले शैल-चित्रों के जैसा यहां से प्राप्त सभी साक्ष्यों को अपनी स्वार्थ की भ्रमिक संस्कृति सतयुग और द्वापर के कथा वाले पात्रों से मिलाते हुए विवेचना करता रहता है। भ्रमिक गिरोह को ऐसा करने का एक ही मकसद है कि आज बहुसंख्यक वर्गों से मिलने वाला आर्थिक दान, सामाजिक सम्मान, राजनीतिक पहचान जिन्दा रहे, बरकरार रहे, यथावत चलता रहे, या आज से भी ज्यादा ऊंची मुकाम पाएं ताकि बहुसंख्यक वर्ग और ज्यादा कमजोर बनते हुए मेरा मानसिक गुलाम बने।

वैसे सिन्धु सभ्यता शुद्ध रूप से बौद्ध सभ्यता थी, जिसमें मिले स्तूप और साधनारत पुरुष का विस्तार से सचित्र वर्णन मैं सम्यक प्रकाशन से प्रकाशित अपनी पुस्तक 'वैदिक युग का घालमेल' में पहले भी कर चुका हूं, उसको आप लोग वहां देख सकते हैं। उसके आलावा भी भ्रमिकों का कुछ और भ्रम उस समय के मिले कुछ प्रमाणों पर है; जिसमें आग जलने का,



अग्नि कुण्ड, नन्दी बैल, रथ का चित्र

बैल का चित्र, किसी गाड़ी के चक्के का साक्ष्य मिला है। जिसकी सचित्र चर्चा मैं नीचे कर रहा हूं।

आप लोगों ने ऊपर में पाषाण काल के बने शैल-चित्र पर दावेदारी देखी, उसी प्रकार यहां भी कुछ भ्रमिकों के अनुयायी अपनी काल्पनिक मान्यता की वजह से कुछ चित्रों पर यह कहते हैं कि यह हवन कुण्ड, महादेव जी का नन्दी बैल और महाभारत के कृष्ण का रथ हो सकता है!

'हो सकना' और 'होना' में कितना अन्तर है, इस बात की समझ आज तक भ्रमिक लेखक या उसके संगठित गिरोह को नहीं है!

सबसे पहली बात कि भ्रमिकों का सतयुग या द्वापर युग जब उन्नत था, उस समय प्लास्टिक सर्जरी की तकनीक विकसित थी, राकेट विज्ञान की जानकारी थी, उड़न खटोला (जहाज) का अविष्कार कर लिया था, विश्व गुरु था; फिर आज अपने वजूद को स्थापित या प्रमाणित करने हेतु, तुम लोग इतने प्रकार के छल-प्रपंच के आलंबन का सहारा क्यों ले रहो हो? सतयुग और द्वापर काल को इतना ज्ञानवान बताने वालों, तुम्हारे द्वारा लिखित कथा के पात्रों को लिखना नहीं आता था क्या? तुम लोग तो अपनी सभी पुस्तकों के माध्यम से सतयुग और द्वापर युग वाली कथा के पात्रों से ज्ञानमयी वर्षा करवाते रहते हो, फिर वह सारा ज्ञान आज कहां खो गया है? उस समय का कौन-सा लिखित साक्ष्य तुम लोगों को मिला? श्रुति भी नहीं कह सकते हो, क्योंकि इस काल की जानकारी तो अंग्रेजी सरकार के समय हुई थी। फिर तुम लोग कैसे और किस आधार पर आज इतना प्रचारित कर रहे हो?

तुम लोगों ने समाज में इतना भ्रम फैला दिया है कि आज हर चित्रों के साथ स्पष्टीकरण देना पड़ता है। अब इस अग्नि वाले चित्र को देखो, इस चित्र को गौर से देखो, यह घर के अन्दर पूरे कमरे में अग्नि जलने

का प्रमाण है। उस कमरे के आस-पास कोई मंत्र तंत्र लिखा हुआ मिला है क्या? बगैर मंत्र का कहीं भी आग जला हुआ मिले, तो क्या उसे भ्रम बनाकर तंत्र मंत्र से जोड़ना उचित है? भ्रमिक के वंशज आज तुम लोग ऐसा कभी पूरे कमरे में आग जलाकर कोई कर्मकाण्ड करते हो? तुम लोग तो आज खुले में तंत्र मंत्र करते हो।

भ्रमिकों तुम लोग तो हाथी का पैर पकड़ कर पेड़ का तना बताने वाले लोग हो, तुम लोगों को क्या पता है कि पूरे कमरे में आग लगाकर क्या किया जाता है? तुम लोगों की बेचैनी देखकर लगता है कि कहीं मुर्दा जलने का प्रमाण या कोई खाना बनने का निशान या ईंट-भट्ठे की जली हुई पहचान को भी किसी कर्मकाण्ड स्थल से जोड़कर बता सकते हो! तुम लोगों की बेचैनी देखकर हंसी आती है कि भला कोई अपने पूरे घर में आग जलाकर कर्मकाण्ड करेगा? आज भी गांवों में कुछ तकनीकी जानकार हैं, जो अपने घर के किसी कमरे में आग जलाते हैं। कभी समय मिले तो गांवों में चले जाना, वैसा नजारा देखने को मिल जाएगा। गांव में मिट्टी के बर्त्तन बनाने वाले कुम्भकार पंडित होते हैं जो अपने मिट्टी के बने कच्चे बर्त्तनों को पकाने हेतु भट्ठी का उपयोग करते हैं, जो बिल्कुल सिन्धु सभ्यता में मिले भट्ठी जैसा होता है। दूसरा, फलों की खेती करने वाला एक तकनीकी समुदाय है जो अपना कच्चा फल (केला) को पकाने हेतु भी इसी प्रकार कमरे में भट्ठी का उपयोग करता है। यह तकनीक सिन्धु सभ्यता से निरंतर आज भी चली आ रही है, जिसे आज भी गावों-कस्बों में देखा जा सकता है। लेकिन भ्रमवादियों को तो सिर्फ भ्रम का मायाजाल फैलाने से मतलब है। भ्रमिकों भ्रम के जंजाल से निकलो, तो मैं तुमको आज भी गावों में ऐसा भट्ठी दिखा सकता हूं।

दूसरा, अंग्रेजों द्वारा सिन्धु सभ्यता की खुदाई से एक सील मिला है जिस पर बैल का चित्र बना है। फिर क्या था, सभी भ्रमवादी उस बैल के चित्र को देखकर आदि शंकर द्वारा स्थापित मायावाद वाली शैव पंथ के शंकर-पार्वती के नंदी बैल से लगे मिलान करने! भ्रम का जंजाल फैलाने वालों, खेती करने का साक्ष्य सिन्धु सभ्यता से पूर्व मिला है, इस बात की जानकारी तुम लोगों को है या नहीं, यह मुझे नहीं मालुम! लेकिन यह जान लो कि सिन्धु सभ्यता से पूर्व बोलन नदी के किनारे मेहरगढ़ की सभ्यता मिली है,



किसान के बैल का चित्र

जिसमें खेती और पशुपालन का साक्ष्य मिला है। अब यह तो नहीं बताना पड़ेगा कि खेती बैल से होती है। मेहरगढ़ से लेकर आज तक जो भी खेती करने वाले किसान हैं, वे सभी बैल का उपयोग करते हैं. बैल से अन्नदाता किसानों का जिवकोपार्जन होता है, इसलिए अन्नदाता वर्ष के प्रारम्भ में अपने बैलों की पूजा भी करते हैं। अब तुम लोग खेती करने वाले अन्नदाता किसान के घरों पर जाकर बैलों को देख सकते हो। कुछ किसान बैलों को सजा-संवार कर रखने के मिजाज वाले होते थे, इस वजह से वैसे बैलों की खूबसूरती देखते बनती थी। वैसे बैल का फोटो भ्रमिकों को आज मिल जाए तो ये लोग स्वयं शंकर बनकर तांडव करने लगेंगे।

पटना के एक पुरातात्विक सम्मेलन (बिहार संग्राहलय 2018) में कुछ ऐसे ही भ्रमिक विद्वान मिले, जो देश में घूम-घूमकर सेमिनार द्वारा कहीं का ईंट और कहीं का रोड़ा को जोड़-तोड़ करते हुए, करोड़ों वर्ष पूर्व द्वापर युग (एक मान्यता) के रथ को बागपत (उत्तर प्रदेश) से प्राप्त होना साबित करने में लगे हैं। वह भी सिन्धु सभ्यता काल की! क्या सिन्धु काल ही द्वापर युग है? फिर तो सिन्धु सभ्यता में द्वापर युग वाले कुछ साक्ष्यों का मिलना और होना चाहिए था? क्यों भ्रमवादियों! तुम्हारे रथ वाले का नगर मिला, रथ वाले की कोई मुद्रा मिली, कोई सील-मोहर मिला, गीता ज्ञान का लिखित अभिलेख मिला, आखिर यह सब जानकारी तुम लोगों को कैसे हुई?

यह रथ इनके पूर्वजों द्वारा लिखित एक काल्पनिक कथा में सृष्टि के रचइता का है! यह जानकर कितना हास्यास्पद लगता है कि जो स्वयं सृष्टि का रचइता हो और उसके द्वारा उपयोग में लायी गयी रथ को सत्यापित करने हेतु आज भ्रमिकों को सत्ता और शिक्षा को विकृत करना पड़ रहा है! जब उसने सृष्टि का निर्माण कर सभी का प्रमाण छोड़ा तो फिर अपने रथ से भी ज्यादा महत्वपूर्ण गीता ज्ञान को लिपिबद्ध क्यों नहीं किया? इसकी

जानकारी तुम सबों को आज कैसे मिली, यह तो बता दो? जिस पाषाण काल में मनुष्य कपड़ा विहीन रहता था, उसके लाखों वर्ष पूर्व तुम्हारे पूर्वज रथ से दौड़ते थे! भ्रम फैलाने की भी एक सीमा होती है, लेकिन गांजा-भांग का सेवन करने वाले भाटों ने उसको भी मजाक बना कर छोड़ दिया है।



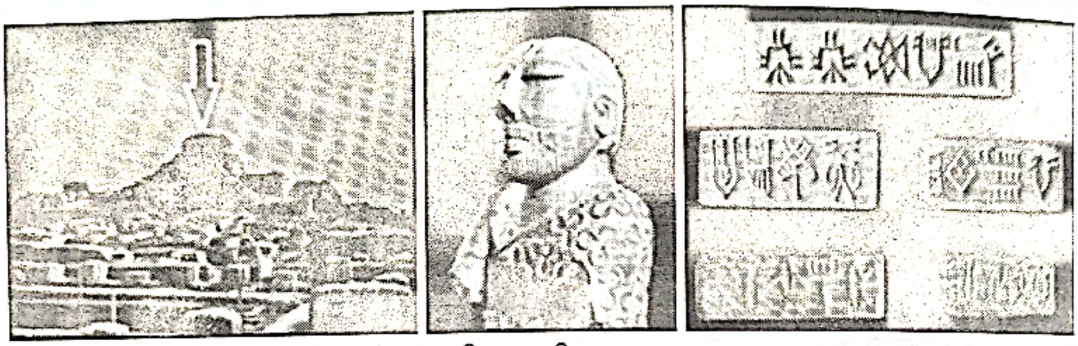
किसान के बैलगाड़ी का चित्र

ये लोग अपने पूर्वजों द्वारा लिखित कथा के पात्रों का मुख्य साक्ष्य जैसे मुद्रा, मृदभांड, अभिलेख, नगर, राज्यादेश, किसी दूसरे देश के यात्री का यात्रा वृतांत आदि को न दिखाकर, झूठ सच करते रहते हैं। अपने झूठे ज्ञान को बचाने हेतु कभी ये लोग समुद्र के अन्दर मिले कोरल पत्थर को पुल बताते हैं तो कभी किसानों द्वारा प्रयोग में लाई जाने वाली बैल गाड़ी के पहिये को रथ का चक्का, तो किसी बैल को शंकर का नंदी! ये लोग अपने बनाए हुए पूर्वजों के भ्रमजाल को अपने सामने टूटते हुए देखकर एकदम से उतावले हो गए हैं। जिस वजह से भांग-गांजा के नशे में कुछ का कुछ जोड़कर दिखाने में मस्त हैं।

पाषाण काल और सिन्धु काल के अलावा भारतीय भूभाग में सात और संस्कृतियां मिली हैं, जो इस प्रकार हैं—कायथा संस्कृति, मालवा संस्कृति, आहर संस्कृति, गैरिक मृदभांड संस्कृति, सवालदा संस्कृति, चिरांद संस्कृति, जोरवे संस्कृति। भ्रमशील जातियों के अनुसार यही वह काल है जब वैदिक युग स्थापित था। भ्रमशीलो, गांजा-भांग का सेवन करते हुए इन सभ्यताओं में भी कुछ देखो! यहां भी किसान लोग काफी उन्नत तरीके से खेती करते थे। उनके पास भी बैल और बैलगाड़ी होती थी। क्यों उनके बैलों को नंदी से और उनकी बैलगाड़ी के चक्के को रथ से जोड़-तोड़ कर भ्रमशील सभ्यता को बचाना नहीं है क्या?

इन सभी संस्कृतियों के बारे में ज्यादा जानने हेतु मेरे द्वारा लिखित और सम्यक प्रकाशन से प्रकाशित पुस्तक 'वैदिक युग का घालमेल' पढ़ें।

पुस्तक को पढ़ने हेतु इसलिए बोला जा रहा है कि सिन्धु सभ्यता में सुस्पष्ट रूप से स्तूप मिला है, चीवरधारी बुद्ध मिले हैं, सिन्धु सभ्यता की लिपि मिली है, सिन्धु सभ्यता की मुद्रा मिली है, सिन्धु सभ्यता की सील मिला है, फिर भी भ्रम फैलाने वाले विद्वान लोग उसका वर्णन नहीं करते हैं और जो स्पष्ट रूप से पता नहीं चलता है उसका भ्रमगान दिन-रात करते हैं। स्तूप, बुद्ध की मूर्ति, लिपि, मुद्रा और सील को देखें।



स्तूप, चीवरधारी मनुष्य, मुद्रा

प्रागैतिहासिक (Prehistory) काल (पाषाण काल) में मानव जीवन का प्रारम्भिक उदय हो रहा था, आप लोगों ने यहां देखा। पाषाण काल के लोग व्यवस्थित मानव बनने के क्रमिक विकास में प्रयासरत थे। उस समय लिपि यानी लिखावट की बात तो भूल जाएं, समुचित भाषा का भी अविष्कार नहीं हुआ था। उस समय भाषा के नाम पर लोग सुर (आज की भाषा में स्वर) का प्रयोग करते थे।

पाषाण काल के लोग उसी सुर द्वारा एक दूसरे से सम्पर्क बनाते थे। जिस सुर को भाषा के विकास क्रम में लोग आज स्वर से जानते हैं, जैसे अ, आ, इ, उ, ए, ओ। प्राणी जगत की सबसे पहली बोली सुर ही होता है। पाषाण काल का मानव, जन्मकाल के बाद का बच्चा और आज का जानवर भी इसी सुर (अ, ए, ओ) का उपयोग करता है।

आद्य-इतिहास (Proto-History) काल (सिन्धु काल) में आप लोगों ने व्यवस्थित मानव जीवन वाली सभ्यता को देखा। जिस सभ्यता में स्पष्ट रूप से स्तूप, बुद्ध (गौतम बुद्ध नहीं) जैसी भेष-भूसा वाली Priest King की मूर्ति, उस समय की लिपि, मुद्रा और सील के स्वरूप प्राप्त हुए हैं। अब यह अलग बात है कि उस समय की लिपि को आज तक किसी के द्वारा पढ़ा नहीं गया है।

फिर भ्रमवंशी समुदाय आज किस आधार पर प्रचारित करता है कि आज से लाखों करोड़ों वर्ष पूर्व में सतयुग (17 लाख अट्ठाइस हजार वर्ष), त्रेतायुग (बारह लाख छियानवे हजार वर्ष), द्वापरयुग (आठ लाख चौसठ हजार) था? साथ ही उस युग में बहुत ही सुंदर-सुंदर मनमोहक सभ्यता, संस्कृति का जन्म भी होना निश्चित करता है। ऐसा वर्णन भ्रमिकों के सभी ग्रन्थों द्वारा किया जाता है। अब तो उस वर्णन से भी ज्यादा उनके कुछ तथाकथित विद्वेषी पुरातात्विक विद्वान सिन्धु काल और बुद्ध काल के समय की खुदाई से मिली कुछ वस्तुओं का विश्लेषण रथ का चक्का और पुष्पक विमान से करने पर तुले हैं। भ्रमवंशी लोग हैं ही ऐसे कि जब मौका देखते हैं तब कुछ भी गपोड़ कथा या उसके पात्र को प्रत्यारोपित (Implant) करते हुए भ्रम का पुलिंदा बनाने लगते हैं। यह भी नहीं सोचते हैं कि जिस पात्र को या उससे जुड़े हुए चक्का या पुष्पक विमान को प्रत्यारोपित (Implant) कर रहा हैं, उसके बारे में मेरे भ्रमवंशी पूर्वज कुछ दूसरा ही समय निर्धारित करके गए हैं।

(भ्रमिक पुस्तक के अनुसार रथ वाले सारथी का काल द्वापर युग 17 लाख 28 हजार वर्ष पूर्व हुआ था। तथाकथित विद्वेषी पुरातात्विक विद्वान द्वारा खुदाई से मिले सिंधु सभ्यता और बुद्ध सभ्यता के अनगिनत साक्ष्यों को द्वापर सभ्यता के पात्रों का कहना कितना उपयुक्त लगता है?)

ऐतिहासिक काल (Historical Period)

इसके बाद ऐतिहासिक काल (Historical Period) का समय आता है। यह समय आज काफी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इस समय के बाद से जितने भी शासक वर्ग और विद्वान वर्ग हुए उन सभी लोगों ने अपनी-अपनी जानकारी का कुछ न कुछ लेखन जरूर किया था और आज वह लेखन की लिपि और भाषा पठनीय है। इसी का परिणाम है कि आज जमीन की कहीं भी खुदाई होती है तो पूर्व काल का लिखित अभिलेख प्राप्त होता है, जिसके परिणामस्वरूप ही हम लोग उन सम्राटों या उस समय के विद्वानों के बारे में जानकारी प्राप्त करते हैं या कर रहे हैं। इसके बाद उस समय कई विदेशी यात्री भी भारतीय भूभाग पर यात्रा करने आए थे, जिन्होंने अपनी यात्रा के दौरान जो भी देखा था, उन सभी को अपने यात्रा वृतांत

द्वारा कलमबन्द किया था। आज इन माध्यमों के द्वारा ही ऐतिहासिक काल की स्पष्ट और प्रामाणिक जानकारी मिलती है।

ऐतिहासिक काल से पूर्व आद्य-इतिहास (Proto-history) काल और प्रागैतिहासिक (Prehistory) काल में मिले प्रमाणों को देखकर आप लोग समझ गए होंगे कि धूर्त और स्वार्थी लोग अपने अंधे और स्वार्थी विवेक द्वारा कैसे लोगों में भ्रम फैलाते हुए भ्रम का पुलिंदा बनाने का कार्य कर रहे हैं। इस वजह से ऐतिहासिक काल में मिले लिखित साक्ष्यों को बहुत ही गौर से आंकलन करने का समय आ गया है, क्योंकि इस समय जो लिखित साक्ष्य उपलब्ध है वह पठनीय है। अब आपको देखना है कि कौन-कौन व्यक्ति द्वारा क्या-क्या लिखित साक्ष्य मिला है और किस व्यक्ति के नाम से भ्रम का पुलिंदा बनाकर लोगों को दिग्भ्रमित किया जा रहा है। आज के भ्रमशीलों द्वारा ऐतिहासिक काल में भी बहुत से काल्पनिक पात्रों को पैदा करते हुए भ्रम का पुलिंदा बनाया गया है, जिनका अभी तक कोई साक्ष्य नहीं मिला है। लेकिन भ्रमशीलों के पास सत्ता का भरपूर सहयोग प्राप्त है इस वजह से वैसे सभी पात्रों को आज शैक्षणिक पुस्तकों के माध्यम से समाज में स्थापित किया जा रहा है। अब समय आ गया है कि लोग उन सभी बातों पर तर्कशील बनते हुए केंद्रित हों और उन विषयों पर गहन छान-बीन करते हुए भ्रमशीलों से पूछें। अगर आप ऐसा नहीं करते हैं तो भ्रमशील प्रजाति के लोग सभी को मूर्ख बनाते हुए मानसिक शोषण करेंगे और जब आपका मानसिक शोषण करेंगे तो उनका भला निश्चित होगा।

इस वजह से आज सबसे ज्यादा जरूरी हो गया है कि, **उत्खनन द्वारा** भ्रमशीलों के पास कौन-सा साक्ष्य है और कौन-सा साक्ष्य नहीं है।

मूल भारतीय संस्कृति की पहचान वाले कौन-से साक्ष्य हैं और कौन से साक्ष्य नहीं हैं।

➢ इस साक्ष्य वाले मूल मंत्र को सभी जागरूक मित्र कसकर पकड़े रहें और भ्रमशील समुदाय से सिर्फ इसी मुद्दे पर बात करें।

क्योंकि, भ्रमशील समुदाय के पास कोई साक्ष्य नहीं होता है फिर भी वह हवा में गैस बनाकर धुआं का बादल खड़ा कर देता है और जब उसे

कोई छोटा-सा तिल जैसा साक्ष्य भी मिल जाता है तो वह चिल्ला-चिल्लाकर उस तिल को ताड़ के पेड़ से भी बहुत बड़ा दरख्त (वृक्ष) बना देता है।

भारत में पाषाण काल (मानव जीवन की शुरुआत), सिन्धु काल (मानव जीवन की व्यवस्थित सभ्यता, जिसमें स्पष्ट रूप से लिपि, स्तूप और बुद्ध के स्वरूप का प्राप्त होना) के बाद मौर्य काल और गुप्त काल की संस्कृति में साक्ष्यों का जखीड़ा भरा पड़ा है, फिर भी भ्रमशील लोग उन सभी साक्ष्यों को खीरा के जैसा आम बना देते हैं और मौर्य काल एवं गुप्त काल में प्रयुक्त शब्दों को अपहृत करके अपने को खास बना लेते हैं।

इन सारी बातों को आप लोग पुरातात्विक संग्रहालय में देखकर अच्छे से समझ सकते हैं।

आइए इन बातों को समझने के लिए हमलोग ऐतिहासिक काल को दो भागों में बांटकर देखेगें, पहला ईस्वी सन् से लेकर ईसा पूर्व 600 वर्ष तक और दूसरा ईस्वी सन् से लेकर 850 ई. तक।

ऐतिहासिक काल

ईस्वी सन् से लेकर ईसा पूर्व 600 वर्ष–ईसा पूर्व 600 वर्ष के बाद से लेकर ईस्वी सन् तक जितने भी शासक हुए हैं उन सभी ने अपने साथ-साथ अपने समय की प्रमुख घटनाओं या अपने काल के प्रमुख व्यक्तियों के बारे में उस समय की लिपि और लेखन वस्तु (शिला) पर अंकित जरूर करवाया था, जिसे आज कोई भी देख सकता है। प्राप्त उन सभी लिखित साक्ष्यों को देखकर ही आज दावे के साथ कहा जा सकता है कि उस समय में कोई जाति या वर्ण-व्यवस्था नहीं थी। फिर भी आज के भ्रमशील समाज या भ्रमशील लेखकों द्वारा उस समय जाति-वर्ण होने की अफवाह फैलाते हुए भ्रम का पुलिंदा बनाया जाता है। ईस्वी सन से पूर्व के किसी भी शासक ने अपने आपको किसी जाति-वर्ण में बांधकर नहीं लिखा है। यानी कि उस समय जाति-वर्ण का जन्म नहीं हुआ था।

दूसरा उस समय शासक वर्ग के अलावा विद्वान वर्ग का साक्ष्य भी मिलता है जिसमें से एक नाम तो विश्व विख्यात मार्गदाता भगवान बुद्ध का है, जिसे सब लोग जानते हैं तथा जिनका किसी जाति-वर्ण से संबंध

नहीं था। भ्रम फैलाने हेतु भ्रमिक समाज और उसके लेखकों द्वारा उन्हें भी क्षत्रिय वर्ण का बना दिया गया है, जो सर्वथा अनुचित है। क्योंकि उसके दो कारण हैं, पहला कारण यह है कि उस समय की भाषा-लिपि में क्ष और त्र अक्षर नहीं थे और दूसरा कारण उस समय के समाज में वर्ण नहीं थे।

जाति और वर्ण की जगह पर उस समय कुल या वंश की परंपरा जरूर थी। यह कुल-वंश की परम्परा भी उस समय सभी लोगों हेतु नहीं थी। यह परंपरा सिर्फ उन्हीं लोगों पर लागू होती थी जो उस समय के राजा या जनपद के प्रमुख होते थे। जिनका जनपद, महाजनपद, गणराज्य या देश पर आधिपत्य हो जाता था, ऐसे लोग ही अपनी पहचान को सार्वजनिक करने हेतु या लोगों को संबोधन करने हेतु अपने कुल-वंश का नामाकरण करवाते थे। क्योंकि उस समय राज करने वाली प्रणाली राजतंत्र की थी, जिसमें राजगद्दी पर उस परिवार का कोई भी सदस्य आसीन होते रहता था, जिसकी वजह से राजा का नाम हमेशा बदलता रहता था। इसी नाम बदलने वाली प्रथा से बचने हेतु उस समय वंश परम्परा का निर्माण हुआ था, ताकि राजा बदलने के बाद भी राजवंश नाम एक बना रहे। इसी वजह से उस समय राजा का नाम बदलने के बाद भी वंश का नाम नहीं बदलता था।

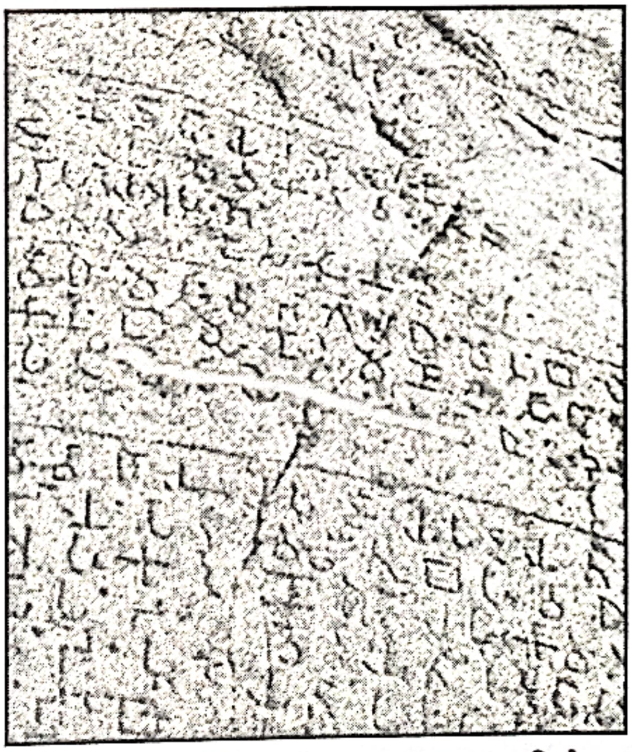
राजा के अलावा अन्य कोई व्यक्ति कितना भी प्रभावशाली क्यों न बन जाए, लेकिन वैसे लोगों का कोई कुल-वंश का नामाकरण नहीं मिलता है या कहें तो वैसे लोगों के कुल-वंश का नामाकरण नहीं होता था। जैसे मक्खलि गोसाल, निगंठ नाथपुत्त, पूरन कस्यप, अजित केसकम्बली, पकुथ कच्चान, संजय बेलेट्ठी पुत्त, आलारकालाम, मोगलायन, सारिपुत्त, महाकास्यप, कात्यान, उपालि आदि। फिर भी उस समय कुल-वंश का नामाकरण तरल था, तत्कालिक था, क्षणिक था, अस्थाई था। जब तक शासन के परिवार कां स्थान राजा या किसी जनपद के प्रमुख के पद पर आसीन है तब तक उस शासक की पहचान वंश से होगी और जैसे ही शासक उस पद या स्थान से हटे, उनके वंश नाम की पहचान खत्म। यह थी सम्यक संस्कृति की समानता वाली व्यवस्था, लेकिन यह तो आज तरल से ठोस हो गया है, वर्णागत हो गया है। जिस वजह से सदियों पूर्व राज-तंत्र में राजा रहने वाले के वंशज राजतंत्र खत्म होने के बाद भी आज लोकतंत्र में राजा या राजपूत नाम से अपने आप को बांधे हुए हैं। भले ही उनका वंशज आज किसी की

कोठी में या किसी होटल में दरवानी का काम क्यों न कर रहा है या किसी के यहां ड्राइवरी का कार्य क्यों न कर रहा है, फिर भी वह आज अपने को राजपूत वंश का ही समझता है। उसी प्रकार जिनका वंश सदियों पूर्व कभी विद्वान था या नहीं, यह बाद की बात है, लेकिन आज उनके वंशज तोता के ज्ञान पर आश्रित होकर अपना पेट पालते हुए भी अपने को आज बड़े ही घमण्ड से विद्वान ब्राह्मण कहते नहीं थकते हैं।

उस समय जाति और वर्ण का उदय नहीं हुआ था, यह तो आज सब भाट-भंगेरा द्वारा फैलाया हुआ भ्रम का पुलिंदा मात्र है।

गौतम बुद्ध का काल

भगवान गौतम बुद्ध के अलावा उस समय कई और विद्वान थे। उन विद्वानों को पालि भाषा में बाम्हन से संबोधित किया जाता था। जिसकी चर्चा सम्राट अशोक के चतुर्थ अभिलेख के माध्यम से की गई है कि धर्म की नीति के द्वारा अनैतिकता और **बाम्हन समणा** (𑀩𑀸𑀫𑁆𑀳𑀡 𑀲𑀫𑀡𑀸) के प्रति निरादर की प्रवृत्ति हिंसा आदि को रोका जाए। यहां बाम्हन और समणा से दो समूह संबोधित हो रहे हैं। पहला बाम्हन, जो मेगास्थनीज के अनुसार उस समय का विद्वान वर्ग था। ऐसे लोग काफी विद्वान और ज्ञानी होते थे। वहीं दूसरा, समणा से उस समय के वैसे लोग जो भगवान गौतम बुद्ध द्वारा बताए गये मार्गों पर चलकर अपने अंदर के विकारों का समण करते थे, यानी राग, द्वेष को निकालकर भिक्खु का जीवन जीते थे।



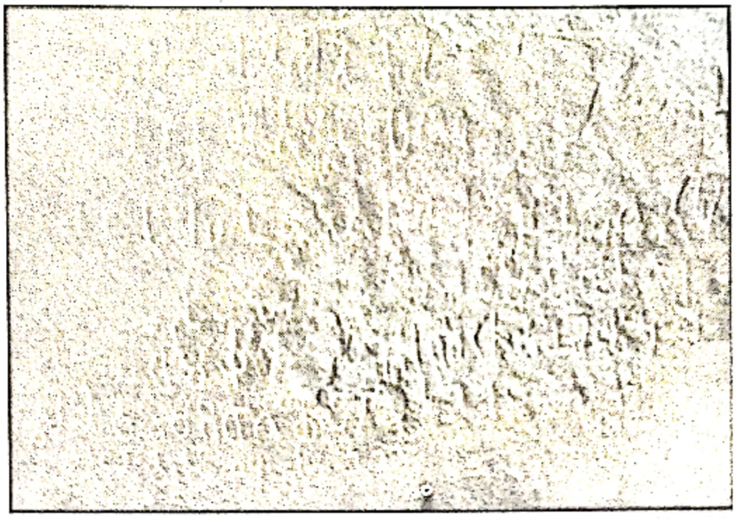
सम्राट अशोक का बम्हन समणा का अभिलेख

ऐसे सम्यक संस्कृति के समय ये दोनों लोग भगवान गौतम बुद्ध के अनुयायी होते थे। उस समय के जिन व्यक्तियों का बाम्हन वर्ग (विद्वान वर्ग) होने का साक्ष्य

मिला है, उनके नामों को लिख रहा हूं—मक्खलि गोसाल, निगंठ नाथपुत्त, पूरन कस्यप, अजित केसकम्बली, पकुथ कच्चान, संजय बेलेट्ठी पुत्त, आलार कालाम, जैसे अनेक विद्वान (बाम्हन) हुए हैं, जिनमें से कई लोग समाज का मार्गदर्शन करते थे। तो कई लोग राजा के दरबार में अमात्य का काम भी करते थे, लेकिन इन सभी लोगों ने कहीं भी अपने आप को किसी जाति-वर्ण में बांधकर नहीं लिखा। ऐसे साक्ष्यों से आज यह स्पष्ट हो जाता है कि ईस्वी सन् से पूर्व जाति-वर्ण नाम की किसी व्यवस्था का जन्म नहीं हुआ था। यह सिर्फ भ्रमवादियों द्वारा पुस्तकों के माध्यम से या गप्पों के माध्यम से भ्रम का पुलिंदा मात्र है।

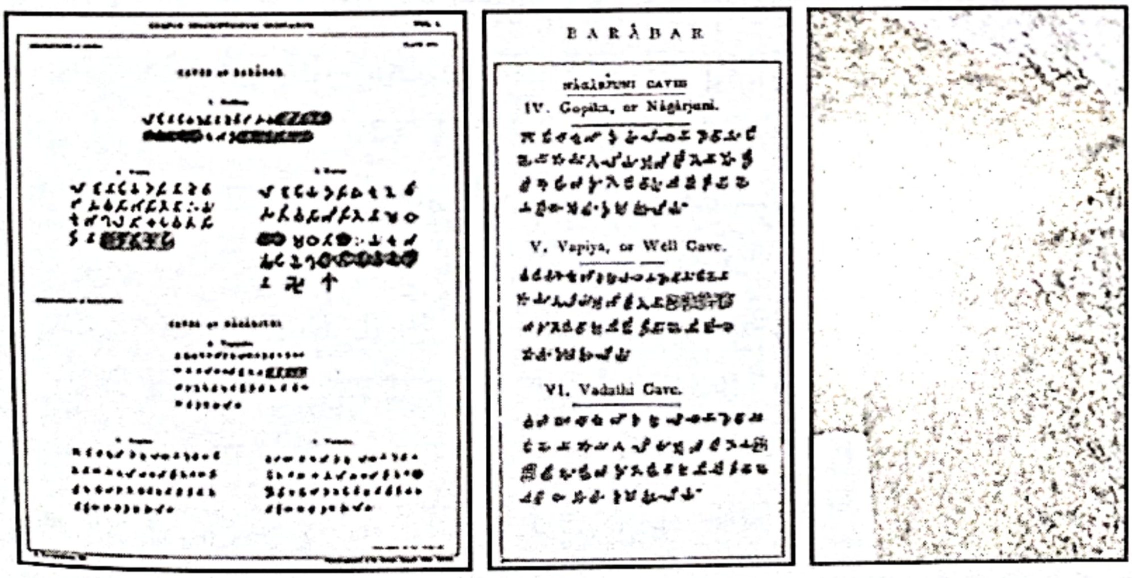
आज लोगों की जानकारी में कितनी विडम्बना दिखती है, जिस व्यक्ति (सम्राट अशोक) ने अपने कार्यकाल की पूर्व वाली प्राप्त जानकारी और वर्तमान में अपने द्वारा की गयी जनहित की सारी जानकारी के साथ-साथ अपने संज्ञान में आयी सारी जानकारी को हीरे की तरह दूर से चमकता हुआ जमीन के ऊपर स्तंभ लेख, पहाड़ के अन्दर गुफा लेख और चौक-चौराहे पर शिलालेख के सहारे लिखकर लोगों को जानकारी में दी थी। जो आज भी वैसे ही स्वरूप में स्थापित है, जिसको कोई भी देख सकता है। लेकिन उन सभी अभिलेखों में लिखित जानकारी को यहां के तथाकथित विद्वान, भ्रमवंशियों की विद्वता के कारण पठन नहीं हो पाया था। उसकी जानकारी यूरोपियन विद्वानों के माध्यम से अठारवीं शताब्दी के बाद भारतीय जनमानस को मालूम हुई थी। लेकिन जिस व्यक्ति ने कभी जन्म लिया या नहीं लिया, जनमानस से जुड़ा हुआ कोई कार्य किया या नहीं किया, (पुरातात्विक रूप से कोई साक्ष्य नहीं मिला है) उसकी जानकारी भ्रमवंशी धूर्त लेखकों द्वारा हजारों हजार वर्ष पूर्व यानी पाषाण सभ्यता से पूर्व की संस्कृति में ऐसा ही हुआ था, यह दावे के साथ कैसे लिखी और बताई जाती है? इसे तथाकथित विद्वानों का मूर्खता कहें या भ्रम का पुलिंदा, यह आप लोग ही तय करें!

सम्राट अशोक ने अपना शिलालेख का लेखन करते समय उस पर स्पष्ट तौर से अपना नाम 'असोक' (𑀅𑀲𑁄𑀓) लिखा था, फिर भी इन तथाकथित भ्रमवंशी विद्वानों को ऐसे महान शासक के नाम की जानकारी नहीं हो पायी थी।



अशोक नाम का अभिलेख

सम्राट अशोक ने अपने कार्यकाल में विद्वान आजीवक संप्रदाय की चर्चा करते हुए गुफा-दान अभिलेख लिखे हैं, लेकिन अपने घर में किसी अज्ञात मूढ़ भ्रमवंशी (चाणक्य) का होना नहीं लिखे हैं। इसको भ्रमवंशी की नादानी कहा जाए या भ्रमवंशी की धूर्तता द्वारा किसी पात्र का प्रत्यारोपण (Implant)? यह बात आज सबको मालूम है कि कोई भी व्यक्ति या शासक जब किसी दूसरे के बारे में लिख सकता है तो अपने घर-परिवार में मौजूद विशिष्ठ लोगों की भी जानकारी जरूर लिखेगा। जैसे अंग्रेजों ने भारत में अपना वर्तमान इतिहास लिखा, तो क्या अंग्रेजों ने भारत का पूर्व में बेहतर या बदतर बीता हुआ कल का इतिहास नहीं लिखा? अगर अंग्रेज विद्वान वह इतिहास नहीं लिखते तो आज सभी लोग भ्रम वंश द्वारा लिखित गपोड़ इतिहास सतयुग, द्वापर और त्रेता के साथ-साथ ब्राह्मण-क्षत्रिय का बखिया बखान इतिहास पढ़ते रहते। जो सिर्फ भ्रम का पुलिंदा मात्र है।



बराबर गुफा लेख (आज शैतान मानसिकता के लोग पुरातात्विक साक्ष्य को मिटाने पर लगे हैं।)

अभी तक आप लोग भ्रमशीलों द्वारा किसी चित्रों का या कभी खुदाई से मिले कुछ आकार को लेकर काल्पनिक तारतम्य बैठाने का प्रयास देख रहे थे। लेकिन अब भ्रमिकों का जो प्रयास देखेंगे उससे थोड़ी देर आप भी सोचने को मजबूर हो जाएंगे कि यह कैसे हो सकता है? भ्रमिकों की मान्यता है कि वेद, रामायण, गीता, महाभारत, उपनिषद और पुराण जैसे सभी श्रुति-स्मृति ग्रंथों का लेखन या वाचन लाखों करोड़ों वर्ष पूर्व हो गया था, लेकिन उन सभी ग्रंथों के अन्दर लिखी गई या बोली गयी संस्कृत भाषा के वाक्यों की शुद्धिकरण हेतु व्याकरण का निर्माण नहीं हुआ था। फिर तो उस संस्कृत में काफी अशुद्धि रही होगी। आखिर, भ्रमिकों का सारा खेल कल्पनाओं से ही चलता है।

किसी भी लिपि या सिर्फ भाषा के निर्माण से पहले उसकी वर्णमाला का बनना निश्चित होता है और साथ में उसके बाद उसकी व्याकरण भी महत्त्वपूर्ण होती है। जैसे ज्ञात ऐतिहासिक काल की पहली लिपि धम्म लिपि और प्राकृत व पालि भाषा के नाम से साक्ष्यों में दर्ज है। कोई अपनी अन्धभक्ति की वजह से बिना साक्ष्य का कुतर्क करता रहे, वह अलग बात है। लेकिन जिसको कुछ पुरातात्विक साक्ष्य का ज्ञान है, वैसे सभी लोग आज धम्म लिपि और प्राकृत, पालि भाषा को ही प्रथम ज्ञात भाषा-लिपि का दर्जा देते हैं।

जब तक भाषा नहीं बनेगी, तब तक उसका व्याकरण बनने का सवाल ही नहीं बनता है। जैसे भगवान बुद्ध ईसा से 563 वर्ष पूर्व जन्म लेने के बाद से. ज्ञान प्राप्ति और महापरिनिर्वाण प्राप्ति तक लोगों के बीच में ज्ञान बांटते रहे। भगवान बुद्ध द्वारा लोगों को जो ज्ञान दिया गया, उसकी भाषा पालि थी, इस वजह से उस समय पालि भाषा का विकास हुआ। अब जब पालि भाषा बनी तो इसके साथ ही इस पालि भाषा के अन्दर अशुद्धि नहीं आए, इसके लिए इसके व्याकरण की आवश्यकता हुई। इसी वजह से पालि के व्याकरण निर्माण में कच्चायन या महाकच्चायन और मौदगल्यान का नाम जुड़ गया। बाद में कच्चायन भी भगवान गौतम बुद्ध के शिष्य बन गये थे।

लेकिन संस्कृत भाषा और संस्कृत व्याकरण का निर्माण किसने और कब किया, इसका आज तक कोई पुरातात्विक प्रमाण नहीं है। ऐसा क्यों?

साथ ही इस संस्कृत भाषा का उपयोग कहां और किस शासक या किस शिक्षण संस्थान में किया जाता था, इसकी भी आज तक कोई जानकारी नहीं है। ऐसा क्यों?

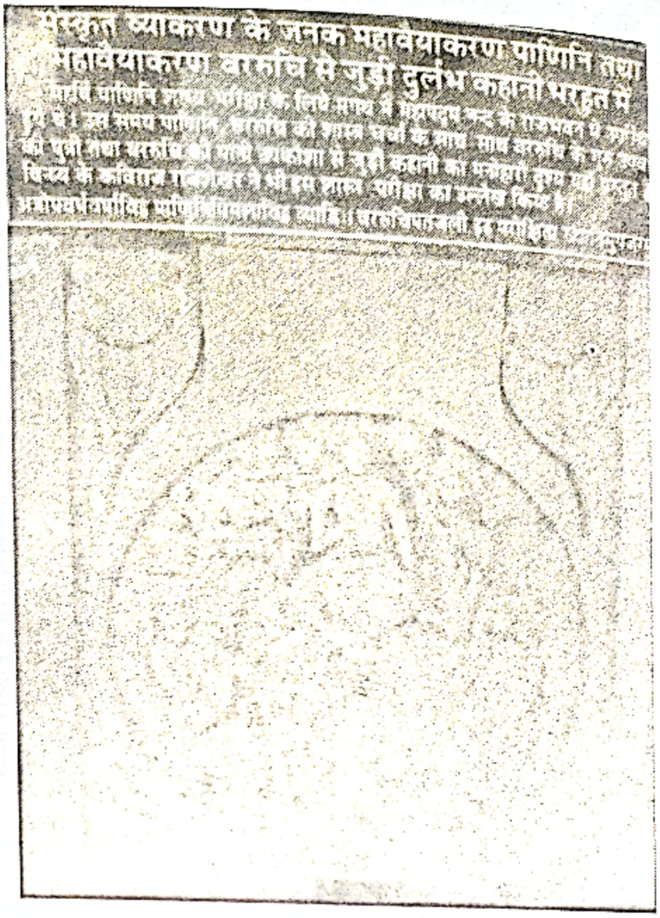
इस विषय पर आज तक कोई भी इतिहासवेत्ता प्रमाण के साथ न खुलकर लिखते हैं और न ही खुलकर सार्वजनिक मंचों से कुछ बोलते हैं, आखिर ऐसी चुप्पी क्यों?

पाणिनि

भ्रमिकों ने संस्कृत भाषा का जन्म अज्ञात लाखों वर्ष पूर्व के नाम का भ्रम तो फैला दिये, लेकिन उस संस्कृत भाषा की लयबद्धता हेतु व्याकरण वाले को स्थापित करना भूल गये थे; जिसकी वजह से भ्रमशीलों को संस्कृत-व्याकरण हेतु ईसा से लगभग 600 ईस्वी पूर्व में जाकर (जन्म का सही समय अभी तक निश्चित नहीं हुआ है।) और अज्ञात स्थान (स्थान भी अभी तक लोग निश्चित नहीं कर पाये कि इनको जन्म होना कहा और किसके घर में दिखाया जाये) पर एक अदृश्य भ्रमिक विद्वान को पैदा कराना पड़ा, जिसका नाम इन लोगों ने 'पाणिनि' रखा था। इन गपोड़ियों के अनुसार पाणिनि संस्कृत के प्रकांड विद्वान थे। इसी वजह से पाणिनि ने संस्कृत-व्याकरण में अष्टाध्यायी (अष्टाध्यायी=आठ अध्यायों वाली) महर्षि संग्रहालय द्वारा रचित संस्कृत-व्याकरण का एक अत्यंत प्राचीन ग्रंथ (600 ई.पू.) लिखा था। जिसमें आठ अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं। प्रत्येक पाद में 38 से 220 तक सूत्र हैं। इस प्रकार अष्टाध्यायी में आठ अध्याय, बत्तीस पाद और सब मिलाकर लगभग 4000 सूत्र हैं।

लेकिन पाणिनि द्वारा लिखा हुआ वह अष्टाध्यायी संस्कृत-व्याकरण ग्रन्थ आज तक किसी खुदाई से नहीं मिला है। पता नहीं भ्रमिकों को कौन से सूक्ष्मदर्शी यंत्र (Microscope) द्वारा पाणिनि द्वारा लिखित अष्टाध्यायी पुस्तक दिख गयी और उस पुस्तक के अन्दर की लिखी हुई ज्ञान की जानकारी मिली गई! मध्य प्रदेश के सतना जिला में भरहुत स्थान से एक शिलापट्ट मिला है, जिसको देखकर भ्रमशीलों द्वारा आज पाणिनि को स्थापित किया जा रहा है। इसे आप लोगों के बीच रख रहा हूं। आपलोग इस शिलापट्ट को गौर से देखें। सही में यह अगर पाणिनि का शिलापट्ट है तो यह अपने

शिलापट्ट में धम्म लिपि 'यव मझ' 𑀬𑀯 𑀫𑀛 (लिखा हुआ स्पष्ट नहीं है) के बाद कुछ शब्द क्यों लिखा है? या तो यह पाणिनि नहीं है या अभी तक पाणिनि के नाम पर चली भाषा को संस्कृत बनाकर लोगों को झांसा दिया जा रहा है। सबसे बड़ी बात कि आज तक भ्रमवाजों को पाणिनि का जन्म स्थान और जन्म समय की जानकारी नहीं है। फिर भी सभी लोगों के बीच में पाणिनि और उसके द्वारा विकसित संस्कृत का होना बताते रहते हैं।



पाणिनि का शिला पट्ट

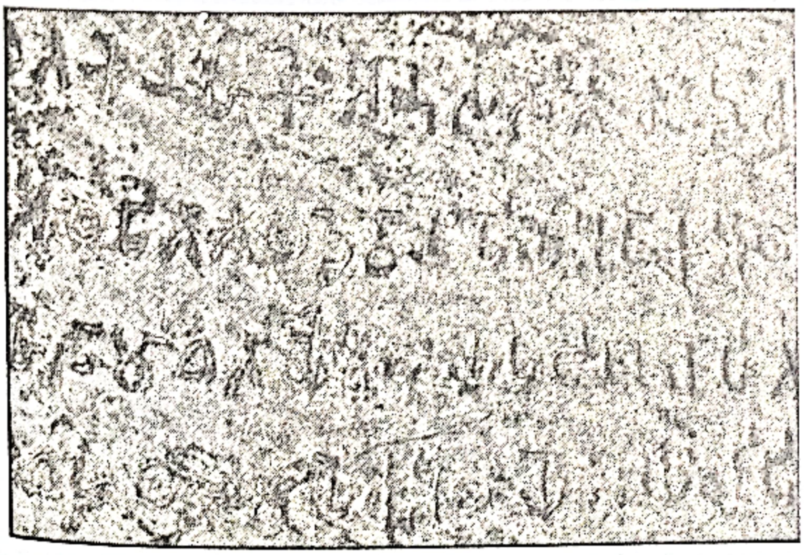
यह चित्रकारी की हुई शिलापट्ट भरहुत में खुदाई से मिली है। इस चित्र को देखकर 'वेद वाणी वितान प्राच्य विद्या शोध संस्थान' के निदेशक सुद्युम्न आचार्य ने इसे संग्रहालय और वररुचि से जुड़ी कहानी का हिस्सा माना है, अब कैसे हिस्सा माना है इसके बारे में कुछ लिखा नहीं है।

एक बात और बता दूं कि 'धम्म लिपि' (**जिसे आज साहित्यक भाषा के रूप में प्राकृत लिपि या ब्राह्मी लिपि कहा जाता है**) की वर्णमाला द्वारा वैदिक संस्कृत कभी नहीं लिखी जा सकती है। क्योंकि वैदिक संस्कृत में चंद्रबिंदु (ँ), शब्दों के अन्त में हलन्त (्), विसर्ग (:) और सबसे ज्यादा वर्णमाला ऋ, औ, अः, श, ष, क्ष, त्र, ज्ञ से बनने वाला शब्द है, जो धम्म लिपि की वर्णमाला में ऐसे स्वर-व्यंजन नहीं हैं। दूसरी सबसे अहम बात यह है कि धम्म लिपि की वर्णमाला में जब 'ऋ' स्वर नहीं है, तो उस स्वर द्वारा संस्कृत का 'कृ' कैसे लिखा जाएगा? नीचे धम्म लिपि लिखा हुआ पुरा अभिलेख रख रहा हूं, इसको देख कर कोई बताए कि चन्द्रबिन्दु, हलन्त, विशर्ग और ऋ का उपयोग कहां हुआ है?

साथियों, बहुत ही जबरदस्त भ्रम का पुलिंदा बनाया गया है। आप समझ रहे हैं न!

धम्म लिपि की वर्णमाला द्वारा कभी भी वैदिक भाषा या पुराण की भाषा संस्कृत का लेखन या वाचन नहीं हो सकता है।

भ्रमशीलों तीसरी एक और बात की जानकारी दे दो! पाणिनि ने संस्कृत-व्याकरण की पुस्तक लिखी। सही में लिखी थी या तुम लोग अभी तक सभी लोगों को भ्रमित कर रहे हो! चलो माना कि पाणिनि ने सही में पुस्तक लिखी, लेकिन वह पुस्तक आज कहां है? आज इस बात की जानकारी कितने लोगों को है कि ईस्वी सन् से लेकर ईसा पूर्व 600 वर्ष तक में जो भी लिखा हुआ मिला या लिखा जाता था वह सभी शिला (पत्थर) पर है, जिसे शिलालेख कहते हैं। क्योंकि उस समय लेखन हेतु कागज, ताम्र-पत्र, भोज-पत्र, ताड़-पत्र या अन्य किसी वस्तु का अविष्कार नहीं हो पाया था, जिस वजह से उस समय के सभी लोग अपने लेखन हेतु शिलाओं के अलावा कुछ भी उपयोग नहीं करते थे। फिर भाट-भंगेड़ा महोदय, अपने संस्कृत लेखन वाले भ्रम पर कुछ बोलो तो सही कि शिलाओं पर लिखा हुआ पाणिनि का वह संस्कृत-व्याकरण किस जगह की खुदाई से मिली है और आज के समय में पाणिनि का वह लिखित शिलालेख किस संग्रहालय में सुरक्षित रखा है? मेरी बात अगर तुम्हारे कानों तक पहुंच जाए तो उसके बाद पाणिनि के शिलालेख की खोज, चाणक्य के नीति-शास्त्र का शिलालेख, बाल्मीकि का रामायण शिलालेख, मनु का मनुस्मृति शिलालेख, वेदव्यास का महाभारत और गीता का 'शिलालेख खोज' नाम पर धारावाहिक बनाकर दूरदर्शन पर जरूर चलाना, ताकि तुम्हारे ऊपर से लोगों का भ्रम का पुलिंदा बनाने की उपाधि दूर हो और तुम्हारे अनुयायियों का विश्वास भी तुम लोगों पर बना रहे।



धम्म लिपि लिखा हुआ एक अभिलेख

अभी तक तुम लोग सिर्फ ईश्वर की खोज नाम का धारावाहिक बनाकर दूरदर्शन पर दिखाते हो। क्यों! सही बोला न!

इस पुस्तक को पढ़ने के बाद 'अभिलेख की खोज' नाम से धारावाहिक बनाओ! कैसा रहेगा?

भ्रम भाट के वंशज लोग जिस काल में पाणिनि को स्थापित करने में लगे हैं, उस समय मध्य भारत में 16 महाजनपद का उल्लेख मिलता है। इन महाजनपदों का नाम क्रमशः इस प्रकार है—मगध, अंग, वज्जी, मल्ल, काशी, कोशल, कुरू, गांधार, काम्बोज, अवंती, चेदि, अस्माक, मत्स्य, पांचाल, सुरसेन, वत्स। जिसमें बिम्बिसार का शासन मगध और अंग पर था। उन सभी महाजनपद की अपनी मुद्रा होती थी, जो आज उत्खनन में मिली है। उस मुद्रा को पंचमार्क की मुद्रा बोला जाता है। उन सभी पंचमार्क की मुद्राओं पर उस समय की लिपि द्वारा सांकेतिक तौर पर महाजनपद के नाम का पहला अक्षर या उस महाजनपद के प्रमुख व्यक्ति के नाम का एक

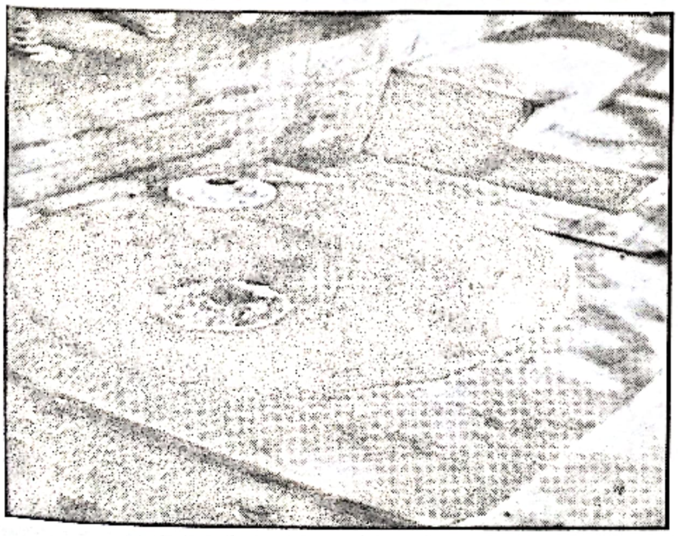


पंचमार्क की मुद्रा

अक्षर अंकित मिला है। जैसे स (ႶႱ), म (४), व (ठ)। उस अंकित अक्षर को आज कोई भी देख व साथ में पढ़ भी सकता है। क्योंकि वह अंकित अक्षर धम्म लिपि में है। उत्खनन से प्राप्त पंचमार्क की मुद्राओं में से कुछ मुद्राओं पर बड़ी ही विशिष्ट निशान व पहचान मिली है। इस निशान को देख व जानकर भ्रमवंशियों की आस्था हिल जाएगी, क्योंकि वे लोग सिर्फ कागज पर लिखे और लोगों के मुंह से सुनी बातों के ज्ञान पर ही गर्व करते हैं, सच्चाई का उन्हें अभी तक पता नहीं है। शायद किसी ने इन्हें पुरातात्विक साक्ष्यों पर आधारित वास्तविक तथ्यों को उनके समक्ष प्रस्तुत नहीं किया है। इसी कारण आज तक इन निशानों पर भ्रमवंशी लोग अपना पुस्तैनी दावा ठोकते आ रहे हैं। ऐसे ही एक पंचमार्क की मुद्रा पर एक साथ बोधि-वृक्ष, चैत्य और स्वस्तिक का निशान बना है। अब, यह तो पता ही है कि चैत्य और बोधि-वृक्ष किस संस्कृति के वाहक हैं! यानी स्वस्तिक निशान भी सम्यक संस्कृति का निशान व पहचान है। इस स्वस्तिक चिह्न पर भ्रम भाटों द्वारा सिर्फ भ्रम का पुलिंदा बनाया जा रहा है। पंचमार्क की एक मुद्रा जिस पर रथ बना हुआ है, उसे भ्रम-भाटों के समक्ष प्रस्तुत कर रहां हूं, ताकि भ्रम-भाटों के तथाथित विद्वान लोग रथ में सवार व्यक्ति से अपना खून का रिश्ता जोडते हुए रथ-सवार का नाम बता सकें!

पंचमार्क की मुद्रा पर रथ और रथ-सवार का चित्र बना है। अब भ्रमवंशी कलम कसाई लेखक रथ पर सवार व्यक्ति को क्या नाम देंगे?

सम्यक संस्कृति में जब भगवान बुद्ध की मूर्ति बनने की परम्परा नहीं थी उस समय बोध गया में पहली बार सम्राट अशोक ने बोधि वृक्ष के नीचे भगवान बुद्ध का पद निशान (सिरीपाद) बनाया था, जिसे सिरीपाद कहा जाता था। आज वैसे अनेक सिरीपाद मिलें हैं जिस पर स्वस्तिक, धम्म चक्र, त्रिरत्न का निशान देखने को मिलेगा। सबसे नीचे में जो सिरीपाद देख रहे हैं वह सिरीपाद स्वात घाटी से मिला



सिरीपाद का चिह्न



स्वास्तिक, धम्म चक्र, त्रिरत्न



सिरीपाद स्वात घाटी चिन्ह

है। जिस सिरीपाद पर खरोष्टि लिपि में 'बोध।सा साकामुनिसा' लिखा हुआ है। आज अगर इस सिरीपाद पर साकामुनिसा नाम नहीं लिखा होता तो आज के कलम कसाई लोग इस सिरीपाद पर अपनी पुर्खों की दावेदारी करते हुए, भ्रम का पुलिंदा बनाते रहते।

भाटों की भ्रमलीला भी अजब है!

पाणिनि के नाम पर वासुदेव शरण अग्रवाल (प्राध्यापक काशी विश्वविद्यालय) ने 1954 ई. में **'पाणिनिकालीन भारतवर्ष'** के नाम से एक पुस्तक लिखी है। जिसमें अध्याय तीन–सामाजिक जीवन पर है। उस सामाजिक जीवन में परिच्छेद एक–वर्ण और जातियां पर लिखा गया है। जिसमें अग्रवाल लिखते हैं कि पाणिनिकालिन समाज की मूल भित्ति वर्ण और आश्रम की व्यवस्था थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों का उल्लेख अष्टाध्यायी में हुआ है। आखिर ये सब पाणिनि ने कहां लिखा, और ये सब विद्वान कहां से पढ़ लिये? क्या किसी ने ईसा पूर्व मिले किसी अभिलेख में वर्ण-जाति का वर्णन देखा है?

सम्राट हर्यक वंश के बाद सम्राट नाग वंश, सम्राट नन्द वंश और सम्राट मौर्य वंश का शासन आता है। मौर्य वंश के संस्थापक में महान चन्द्रगुप्त का नाम बड़े ही आदर के साथ लिया जाता है। क्योंकि इनकी वीरता के आगे देशी तो देशी, विदेशी सूरमा-भोपालि भी पानी पीते थे। इस देश

के इतिहास में यह 'भूतो न भविष्यतो' वाली घटना है। अभी तक आपने अपने देश के अन्दर किताबों में वर्णित एक से एक कागजी सुरमा-भोपालि गीदड़ छाप शेर शासक को पढ़े होंगे, लेकिन किसी ने भी विश्व विजेता को पराजित नहीं किया है। उल्टे इन कागजी सुरमा-भोपालियों को समय-समय पर लंगड़ा-लूला या बाल्य लुटेरे से हार का मुंह देखना पड़ता था। किताबों में कोई कितना भी गाल बजाते हुए अपना बखान कर ले, लेकिन सच्चाई को कोई छिपा नहीं सकता है। आज देश के अन्दर वीरता पर दो प्रकार की जानकारी प्रचारित है। जिसमें पहली जानकारी, भीम की लाठी या चार सौ किलो का कवच-कुण्डल बोलकर बहादुरी का बखान किया जाता है, तो वहीं दूसरी वीरता की जानकारी चन्द्रगुप्त मौर्य की वीरता की दी जाती है। अब इस दोनों जानकारियों में बहुत ही बड़ा फासला है। वीरता की पहली कहानी सिर्फ देश के अन्दर के लोगों को बताई जाती है तो वहीं वीरता की दूसरी कहानी देश-विदेश में सभी लोगों को बताई जाती है। इसका कारण तो आप लोग समझ ही गए होंगे या इस पर भी कुछ बताना होगा? बात यह है कि भारत में हर जानकारी को देशी और विदेशी हेतु अलग-अलग बनाकर रखा गया है। जैसे भारतीय लोगों हेतु बनी पुस्तकों में आदर्श पुरुष का चयन भ्रमिकों की कथा कहानी वाले पात्रों से किया जाता है, तो वही भारतीय पुस्तकें जब विदेशों में जाती हैं और वहां के लोग इन पुस्तकों के माध्यम से भारतीय आदर्श पुरुष की जानकारी प्राप्त करते हैं तो ऐसी पुस्तको में आदर्श पुरुष का चयन पुरातात्विक रूप से प्रमाणित भगवान बुद्ध और भगवान महावीर को किया जाता है।

चन्द्रगुप्त मौर्य और सेल्यूकस का सारा घटना-चक्र उत्खनन द्वारा पुरातात्विक विभाग से अभिप्रमाणित है, साथ ही इन सभी घटनाओं का वर्णन यूनानी लेखकों द्वारा यूनानी भाषा में लिखित है, उसको भी अंग्रेजी अनुवाद करते हुए प्रमाणित किया गया है। इस पर कोई किसी प्रकार का भ्रम नहीं पाले। क्योंकि यह अभी तक के इतिहास में अद्वितीय घटना है।

चन्द्रगुप्त मौर्य के सत्ता पर बैठने के बाद उत्तर-पश्चिम सीमा पर सिकन्दर (अलेक्जेन्डर) के सेनापति सेल्यूकस के साथ भयंकर युद्ध होता है, जिसमें सेल्यूकस को हार का मुंह देखना पड़ा था। इस हार के बाद सेल्यूकस के अन्दर चन्द्रगुप्त मौर्य के नाम से खौफ बैठ गया था। अब तो उसे किमी भी

प्रकार से चन्द्रगुप्त मौर्य से संधि की जुगत लगानी थी, अन्यथा उसे अपना साम्राज्य खत्म होने का डर सताने लगा था। आगे इसी का प्रमाण है कि दो राजाओं के बीच दुश्मनी को पारिवारिक संबंध में बदलने हेतु सेल्यूकस ने चन्द्रगुप्त मौर्य से अपनी बेटी हेलना की शादी की तथा साथ-साथ पश्चिमी भूभाग का बहुत बड़ा हिस्सा हिरात, कंधार, काबुल, बलूचिस्तान जैसा उन्नत भूभाग मगध सम्राट के चरणों में सुपूर्द किया था। इतना होने के बाद भी सिकन्दर के अन्दर बैठा डर पूरी तरीके से खत्म नहीं हो रहा था। इस वजह से उसने इतना होने के बाद भी अपने एक यूनानी विद्वान मेगास्थनिज को शान्ति दूत के रूप में मौर्य दरबार में भेजा था, ताकि आगे किसी प्रकार की कोई परेशानी नहीं हो।

चाणक्य

भ्रमशील समुदाय को चन्द्रगुप्त मौर्य की शौर्य गाथा वाली सारी जानकारी अंग्रेजी सरकार के आने के बाद प्राप्त होती है। यही वजह है कि अंग्रेज के पूर्व काल में भ्रमिकों द्वारा गढ़ी गयी किसी कहानी में चाणक्य की कोई गाथा वाली कहानी नहीं है। लेकिन जब अंग्रेजी विद्वानों द्वारा मौर्य शासन की जानकारी इस प्रकार से बताई गयी तो भ्रमिकों में खलबली मच गयी कि बगैर भ्रमिक के सहयोग से कोई इतना बड़ा शासक कैसे बन गया? अगर बन भी गया तो अब यह अच्छी बात नहीं है। उस जानकारी को अब विकृत करना ही होगा! साथ ही उस प्रामाणिक वीरता का सारा श्रेय किसी भ्रम वंश के पात्र को जाना चाहिए!

बस इसके बाद भ्रमशील समुदाय द्वारा मौर्य काल के महान संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में नीति निर्धारण हेतु भ्रमशील समुदाय का एक काल्पनिक पात्र चाणक्य को प्रबंधक के रूप में उदय कराया जाता है। ऐसा मैं नहीं, बल्कि चाणक्य के बारे में मिला घुसपैठिया प्रमाण कहता है। ऐसे इस पात्र के बारे में विस्तारपूर्वक जानकारी मैंने सम्यक प्रकाशन से प्रकाशित पुस्तक 'बुद्धिजीवियों का षडयंत्र' में मेगास्थनीज के हवाले से दी है, जिसे आप लोग देख सकते हैं। फिर भी कुछ बातों पर यहां भी चर्चा करेंगे। ऐसे भ्रमशीलों की यह पुरानी आदत रही है। उनके समुदाय की आठवीं शताब्दी से पूर्व जो भी गपोड़ प्रसिद्धि है, वह सब

घुसपैठ द्वारा ही निर्मित है। दूसरे राजपूत और मुगल काल के दरबार में रहे भ्रम-भाट दरबारियों की प्रसिद्धि जग-जाहिर है। इसमें भी भ्रमिकों की सबसे बड़ी विश्वविख्यात गुणवत्ता अकबर के दरबार में रहे नवरत्नों में बीरबल, टोडरमल या टोडरमल के परम मित्र तुलसीदास के बारे में जग-जाहिर है। प्रमाणिक तौर पर आठवीं-नौवीं शताब्दी से पूर्व भारत में जब किसी जातियों का उदय ही नहीं हुआ था तो फिर भ्रामिकों का जन्म भी होने का सवाल नहीं है। इसी सच्चाई को झुठलाने हेतु भ्रमिक समुदाय अपने काल्पनिक पूर्वज को समय-समय पर आठवीं शताब्दी से पूर्व में जाकर पुस्तकों के माध्यम से पैदा करते रहते हैं।

ऐसा भ्रम फैलाने से भ्रमशील समुदाय को एक साथ दो बातों का लाभ होता है। पहला लाभ तो यह होता है कि आठवीं-नौंवी शताब्दी के बाद जन्म लेने वाला भ्रमिक समुदाय के जाति-वर्ण का सगा-संबंधी पूर्व की सम्यक संस्कृति में जाकर प्रत्यारोपित (Implant) हो जाता है और भ्रमिकों को दूसरा लाभ यह होता है कि सम्यक संस्कृति में मौर्य वंश के जैसे अन्य बलशाली सम्राटों के पल्लू में छुपकर यह समुदाय अपनी झूठी गुणवत्ता को दिखा देता है। जबकि दोनों तथ्य तर्क-संगत नहीं हैं।

इसलिए तर्क की कसौटी पर इन जाल फरेबों को कोई भी कसेगा तो धूर्तों द्वारा निर्मित भ्रम का पुलिंदा आसानी से दिख जाएगा।

चाणक्य पर निर्मित भ्रम का पुलिंदा को देखते हैं।

भ्रमबाजों ने अपनी गपोड़ता वाली आदत की वजह से चाणक्य का इतना बखान कर दिया कि आज वही उसके गले का फांस बन गया है। जैसे चाणक्य द्वारा चाणक्य नीति और चाणक्य अर्थशास्त्र की जानकारी को काफी प्रमुखता से जगजाहिर करना। अब इस बात की जानकारी तो सभी को है कि चन्द्रगुप्त मौर्य या उस समय के रहे अन्य सभी सम्राटों या सभी विद्वानों वाली लिखी जानकारी खुदाई से मिली है। साथ ही उस खुदाई में जो भी लिखित साक्ष्य मिला है वह सारा लिखा हुआ पत्थरों (शिला) पर मिला है। इस बात से आप सब लोग सहमत हैं कि मौर्य काल का सारा लिखित अभिलेख शिला पर मिला है। फिर चाणक्य का लिखित ज्ञान शिलापट्ट पर कब और कहां से मिला है, इसकी भी जानकारी दी जाए?

यह बात आज पूरे विश्व को मालूम है कि भारत में ईस्वी सन् से पूर्व जिस किसी ने भी कुछ भी लिखा था, वह सभी लिखावट शिलाओं (पत्थर) पर और धम्म लिपि में लिखा हुआ मिला है। फिर चाणक्य नीति और चाणक्य का लिखा हुआ अर्थशास्त्र, शिलाओं पर पूर्व वाले भाषा स्वरूप में आज तक क्यों नहीं मिला है?

क्या चाणक्य उस समय का कोई अपवाद व्यक्ति था, जो अपने भ्रमिक (भूदेव) समुदाय के अलौकिक शक्ति का प्रयोग करते हुए, शिलाओं की जगह सीधे ईसा बाद के बने कागज और ईसा बाद की विकसित नागरी लिपि द्वारा लेखन-कार्य करने लगा था?

बात यह है कि भ्रमिकों पर कभी-कभी सस्ते नशे का प्रभाव गजब का चढ़ता है।

आखिर नशा का प्रभाव नहीं हुआ तो, फिर गपोड़ियों को बिना पुरातात्विक साक्ष्य के चाणक्य की जानकारी कैसे हुई?

आज समग्र मौर्य वंश के कार्यकाल के जितने भी लिखित शिलालेख मिले हैं उन शिलालेखों में किसी चाणक्य की कहीं कोई चर्चा नहीं मिली है। अगर उन शिलालेखों में चाणक्य की कुछ चर्चा नहीं हुई है तो इससे स्पष्ट हो जाता है कि चाणक्य नाम के पात्र को बाद में प्रत्यारोपित (Implant) करते हुए भ्रम का पुलिंदा बनाया गया है।

ऊपर मैंने भ्रमिकों को सलाह भी दी थी कि तुम लोग दुरदर्शन के माध्यम से 'ईश्वर की खोज' की जगह पर 'अभिलेख की खोज' नाम का एक धारावाहिक बनाओ, उसमें चाणक्य के द्वारा लिखित शिलालेख को शामिल कर लेना ताकि चाणक्य के द्वारा लिखित अभिलेख की सच्चाई आज सभी लोगों के बीच में आ जाए, जिससे सभी के दिमाग में चाणक्यलीला की सच्चाई का पता चल जाए!

उम्मीद करता हूं कि आप लोग भ्रमिकों का गपोड़लीला समझ गये होंगे!

फिर भी एक बात कि जानकारी दे दूं कि अंग्रेजी सरकार में मिले पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर जब मौर्य वंश की महानता बताई गई तो अंग्रेजी काल में भ्रमिक समुदाय को अपने गपोड़ ज्ञान पर कुंठा महसूस होने लगी होगी। उस कुंठा से बचने का एक ही उपाय था कि एक नई

भ्रमपूर्ण कहानी के पुलिन्दे को जन्म देना, जिसमें मौर्य काल का सारा श्रेय उनके अपने सिर पर आ जाए। ऐसे भ्रमिक समुदाय के अन्दर यह गुण जन्मजात देखने को मिलता है।

भ्रमिक समुदाय को जब किसी भी काल या घटना में अपने आपको स्थापित (Implant) करना होता है तो सबसे पहले एक लेखक का नाम तय किया जाता है; जिस लेखक का नाम कल्पना द्वारा तय होता है, उस लेखक का वास्तविक जीवन से कोई दूर का भी संबंध नहीं होता है। अब खेल का दूसरा पहलू शुरू होता है। पूर्व काल के किसी महत्त्वपूर्ण वंश की जानकारी वाली पुस्तक या बौद्ध जातक कथाओं से युक्त कोई भाग को लेकर एक पुस्तक की रचना होती है। अब उस रचना में जिस पात्र को या जिस विषय को स्थापित करना होता है, उससे संबंधित उस समय के पात्रों को या वैसे विषय का दो शब्द वर्णन कर दिया जाता है और आगे यह पुस्तक एक स्रोत का काम करना शुरू कर देती है। भ्रमिकों द्वारा अभी तक जितनी भी कहानियां बनायी गयी हैं सभी में इसी प्रकार से मिथ्या विषय या मिथ्या पात्र या मिथ्या युग का निर्माण करते हुए भ्रम का पुलिंदा तैयार किया गया है।

चाणक्य नाम के किरदार को मौर्य के दरबार में बैठाने (Implant) हेतु दो अज्ञात व्यक्तियों द्वारा अज्ञात काल में जाकर दो पुस्तकों का लेखन होता है, जिनमें एक पुस्तक का नाम 'महावंश' और दूसरे का नाम 'मुद्रा राक्षस' है। अब जो पहली पुस्तक महावंश है, उस महावंश पुस्तक का प्रथम लेखन किस काल में हुआ और इसका लेखक कौन था, इसकी सही पुष्टि करने वाला आज कोई नहीं है। अब इस महावंश पर गौर करें, तो पाएंगे कि इसमें सम्राट बिम्बिसार से लेकर गुप्त शासक तक का वर्णन किया गया है। इस पुस्तक में सम्यक संस्कृति में रहे सभी सम्राटों और मार्गदाता का कार्य वर्णन चामत्कारिक और विकृत करते हुए दिखाया गया है। महावंश में सम्राट अशोक द्वारा अपने 99 भाइयों की हत्या को दिखाया गया है, तो वहीं भगवान बुद्ध द्वारा सिरीलंका का भ्रमण भी बताया गया है।

आखिर इस पुस्तक में पुरातात्विक साक्ष्यों के विपरीत इतनी बड़ी छेड़-छाड़ किस आधार पर की गयी है, इसका कोई भी प्रामाणिक आधार नहीं दिया गया है। जिस काल खण्ड के बारे में इसमें चर्चा की गयी है, उससे यही प्रतीत होता है कि इसका लेखन गुप्त काल के बाद में कभी हुआ होगा।

इसके लेखन के काल का अनुमान जो लगाया जा रहा है उसके अनुसार उस समय देश पर हर्षवर्द्धन वंश या पाल वंश का शासन था और साथ ही उस समय देश में अनेक शिक्षण संस्थान भी कार्यरत थे, जिस वजह से आज गुप्त काल का और अनेक शिक्षण संस्थानों का काफी लिखित साक्ष्य मिला है। लेकिन वह सभी साक्ष्य जमीन के अन्दर खुदाई से मिले हैं। फिर महावंश पुस्तक की जानकारी किस उत्खनन से हुई, यह आज तक किसी को नहीं मालूम है। सबसे मजे की बात यह कि गुप्त काल, वर्द्धन काल, पाल काल या उस समय के शिक्षण संस्थानों का सभी लेखन ताम्र पत्र, ताड़ पत्र के साथ धम्म लिपि की वर्णमाला में है, लेकिन गपोड़ियों द्वारा चाणक्य को स्थापित करने हेतु लिखी गयी महावंश पुस्तक कागज पर है। फिर तो पक्के तौर पर कहा जा सकता है कि महावंश नाम की पुस्तक का लेखन का समय नौवीं और दसवीं सदी के बाद का है।

महावंश वस्तुतः सिरीलंका से जोड़कर लिखी गयी पुस्तक है। इस पुस्तक के मूल लेखक कौन हैं, इस बात की जानकारी आज तक किसी को नहीं है। लेकिन इस पुस्तक का अनुवाद करवाते हुए पुनः 1942 ईस्वी में हिन्दी साहित्य सम्मेलन (प्रयाग) उत्तर प्रदेश के सहयोग से प्रकाशक बनते हुए, पोद्दार प्रसाद गौड़, कायस्त पाठशाला प्रेस द्वारा मुद्रित करवाया गया था। इस पुस्तक पर अनुवादक के रूप में भदन्त आनन्द कौशलायन का नाम लिखा है। यहां आनन्द कौशलायन सिर्फ अनुवादक की भूमिका में हैं, पुस्तक के अन्दर लिखी किसी विषयवस्तु से उनका कोई लेना देना नहीं है। लगता है कि किसी साज़िश के तहत भदन्त आनन्द कौशलायन जी से यह अनुवाद करवाया गया है।

अब कहानी को समझें!

वृहद् पैमाने पर उत्खनन होने के बाद उन्नीसवीं शताब्दी में अंग्रेज विद्वान द्वारा पाषाण काल, सिन्धु काल, मौर्य काल और गुप्त काल की जानकारी मिलती है, जिसमें मुख्य रूप से मौर्य काल में वृहद् भारत और उत्कृष्ट सम्राट की जानकारी प्राप्त होती है। उसके बाद तो देश के भ्रम-भाटों के पेट में गुड़गुड़ी चालू हो जाती है। फिर शुरू होती है एक नयी कहानी का लेखन करते हुए भ्रम का पुलिंदा बनाने का, जो आज आपके सामने है।

आखिर इतना बड़ा भ्रम का पुलिंदा!

दूसरी पुस्तक 'मुद्रा राक्षस' है, उसमें भी भ्रम का पुलिंदा देख लेते हैं।

मुद्रा राक्षस के मूल लेखक का नाम विशाखा दत्त अंकित है, जो एक संस्कृत भाषा में नाटक के स्वरूप में अंकित है। लेकिन विशाखा दत्त द्वारा लिखित मूल रचना की पाण्डुलिपि अभी तक मिली नहीं है। दूसरी सबसे अहम बात यह है कि इस लेखक की जन्म-तिथि और जन्म-स्थान कहां है, इसकी जानकारी अभी तक किसी को नहीं है। इस लेखक ने अपनी पुस्तक मुद्रा राक्षस में लिखित जानकारी को कैसे प्राप्त किया, इसके बारे में भी कुछ नहीं लिखा है। आखिर क्यों? क्योंकि मौर्य काल की सारी जानकारी अंग्रेज विद्वान ने उत्खनन करने के बाद जाना था। इस नाट्य पुस्तक मुद्रा राक्षस को 1850 ईस्वी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा अनुवाद किया गया था। जिस अनुवादित नाट्य पुस्तक में अंग्रेज विद्वानों द्वारा दी गयी जानकारी का कुछ अंश और स्थापित करने वाले पात्र चाणक्य के बारे में दो शब्द वर्णित है।

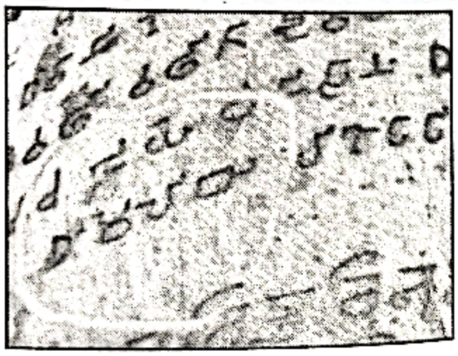
बस यहीं से शुरू होता है एक काल्पनीक पात्र पर भ्रम का पुलिंदा बनना!

अब इन्हीं सब पुस्तकों को आधार मानकर भ्रमिक समुदाय के सत्ताधारी तगमा से सुशोभित किसी लेखक का पुस्तक या दैनिक अखबार में संपादकीय लेखन होगा और बस काल्पनिकता की सच्चाई में स्थापना होनी शुरू हो गयी समझो। इसके बाद तो ऐसे पात्रों का शैक्षणिक अध्याय में पदार्पण होना निश्चित है। चाणक्य की घटना में भी स्पष्ट तौर पर ऐसा ही किया गया है।

इसी मौर्य काल में चन्द्रगुप्त मौर्य के पौत्र सम्राट अशोक शासक हुए थे, जिस सम्राट अशोक का दर्जा विश्व के महानतम सम्राटों में स्थापित है। उनके द्वारा किए गए देशहित, नागरिकहित, धर्महित के कार्य और उनके वृहद् भारत का शासन क्षेत्र एक अभूतपूर्व मिसाल के तौर पर अंकित है। आज तक उतने वृहद् क्षेत्र के चौथाई भाग पर किसी भी शासक ने कभी शासन नहीं किया है। महान चक्रवर्ती सम्राट अशोक अपने द्वारा किए गए सभी कार्यों को अपने नाम से लिपिबद्ध करते गए थे। अगर सम्राट अशोक वैसा नहीं करते तो शायद आज का भ्रमिक संगठन उन कार्यों को अपने काल्पनिक पूर्वजों के नाम करने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ता। लेकिन इस बीच सबसे ज्यादा आश्चर्य तब होता है कि इतना महान सम्राट होने

के बाद भी उन्होंने अपने लेखन हेतु सिर्फ शिला (पत्थर) का प्रयोग किया था, लेकिन इनसे पूर्व में भ्रमिक वंश का पाणिनि और चाणक्य ने अपनी जानकारी को कागज पर लिखा था! क्या उस समय कागज का आविष्कार हो गया था या भ्रमिकों द्वारा निर्मित कागज के फूलों से आप लोगों को सुगन्ध आने लगती है? खैर! आप लोग कागज के बने बनावटी फूल से सुगन्ध का मजा लीजिए, लेकिन सम्राट अशोक या इसके पूर्व में जो भी लोग अपनी बातों को लिपिबद्ध किये थे, आज उन सभी का लिखित साक्ष्य शिलाओं पर मिलता है; जिसको कोई चाह के भी इनकार नहीं सकता है।

ईस्वी सन् से पूर्व प्राप्त सभी अभिलेखों की लेखन वस्तु का प्रकार शिला (पत्थर) है और लिपि देखने के बाद स्पष्ट पता चलता है कि यह धम्म लिपि है। इस वजह से पत्थरों पर धम्म लिपि की वर्णमाला में पाणिनि द्वारा संस्कृत की पुस्तक, चाणक्य द्वारा नीति-शास्त्र की पुस्तक, बाल्मीकि द्वारा रामायण की पुस्तक, मनु द्वारा मनुस्मृति की पुस्तक, वेदव्यास द्वारा महाभारत और गीता की पुस्तक अथवा भ्रमबाजों द्वारा फैलाई गयी कोई भी अन्य पुस्तक जिन्हें ईस्वी सन् से पूर्व का स्थापित होना बताया जाता है, वैसा आज तक कुछ मिला नहीं है। यह सिर्फ भ्रम-भाटों का फैलाया हुआ भ्रम का पुलिन्दा है। उनकी सभी पुस्तकें कागज और वैदिक नागरी वर्णमाला में हैं, जो कागज और नागरी की वर्णमाला बनने के बाद लिखी गई हैं।

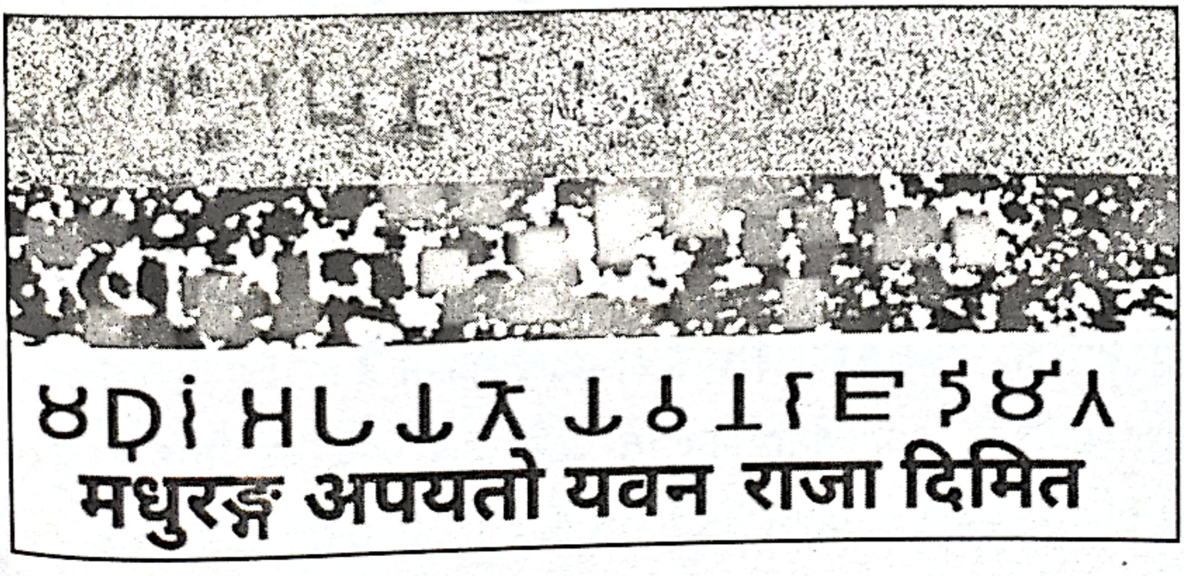



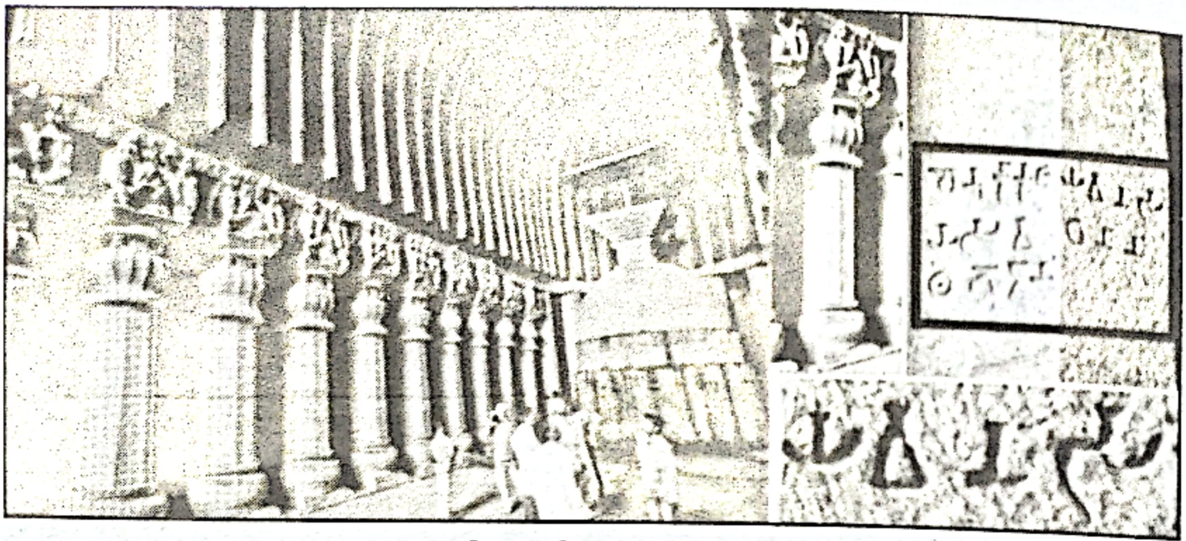
धम्म लिपि—धम्म लिबि लिखा चित्र

भ्रमबाजों ने देश के अन्दर आज इतना भ्रम का वातावारण बना दिया है कि आज ब्राह्मणी मतों के प्रत्येक अनुयायी को संस्कृत भाषा और नागरी लिपि लाखों वर्ष पुरानी लगती है, जबकि वह आज साक्ष्य के आभाव में वास्तविकता से कोसो दूर है। भारतीय ऐतिहासिक काल में शिलाओं पर आज तक जो भी लिखा मिला है उस लिपि को देखकर किसी को नाम जानने में असुविधा नहीं हो, इसी वजह से सम्राट अशोक ने उस लिपि का

नाम **'धम्म लिपि'** (D'४ J'L') और समुद्र गुप्त ने **'धम्म लिबि'** (D'४ J'□') लिख रखा था। प्रस्तुत चित्र में आप लोग भी देख भी सकते हैं।

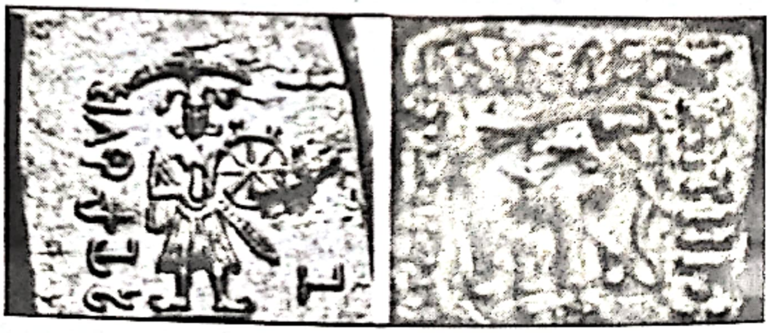
मौर्य साम्राज्य का समय ईसा पू. 322 से लेकर ईसा पू. 185 तक का रहा है, जिसमें मौर्य साम्राज्य दस पीढ़ी तक सत्ता पर आसीन रहा था। यानी कि मौर्य की दस पीढ़ी मिलाकर 137 वर्ष मौर्यों का शासन रहा। जिसमें चन्द्रगुप्त मौर्य, बिन्दुसार मौर्य और सम्राट अशोक, ये तीन मिलकर ही 90 वर्ष सत्ता पर रहे और कुणाल मौर्य, दशरथ मौर्य, सम्प्रति मौर्य, शालिसुक मौर्य, देववर्मन मौर्य, शतधन्वन मौर्य, बृहद्रथ मौर्य के साथ नौ लोग मिलकर सत्ता पर 47 वर्ष तक काबिज रहे। जिसमें सबसे कम समय तक कुणाल 4 वर्ष और बृहद्रथ 2 वर्ष सत्ता पर आसीन होने वाले सम्राट हैं। सम्राट अशोक के बाद से ही कुणाल मौर्य के शासनकाल से मौर्य साम्राज्य का शासन कमजोर होने लगा था जिसके परिणामस्वरूप देश के दक्षिणी भाग पर सातवाहन साम्राज्य का उदय, तो पश्चिमी क्षेत्रों पर हिन्द बैक्ट्रीयाई शासकों का आना शुरू हो जाता है। जिसके कारण सम्राट अशोक का विशाल साम्राज्य वाला क्षेत्र, जिसे उस समय 'जम्बुदीप' कहा जाता था, उस जम्बुदीप का क्षेत्र सिमटकर छोटा होता जा रहा था। सम्राट अशोक के मात्र 47 वर्ष बाद ही जम्बुदीप के छोटे से भूभाग मगध देश पर शुंग वंश का उदय होता है। यानी इसको ऐसा भी कह सकते हैं कि ईसा से दूसरी शताब्दी पूर्व के लगभग जम्बुदीप के भूभाग पर तीन शासकों का सत्ता संचालन स्थापित हो जाता है। जिसमें पश्चिम के क्षेत्रों पर हिन्द बैक्ट्रीयाई की सत्ता तो दक्षिण के क्षेत्रों पर सातवाहन की सत्ता और बीच वाले भूभाग मगध पर पुष्यमित्र शुंग की सत्ता स्थापित हो जाती है। ईसा पूर्व में इन तीनों शासकों के अपने-अपने





चैत्य और स्तंभ लेख

क्षेत्रों से प्रचुर मात्रा में साक्ष्य प्राप्त हैं जिसकी वजह से इस कड़वी सच्चाई को इनकार करना उचित नहीं है। इन्हीं साक्ष्यों के आधार पर पता चला कि पुष्यमित्र शुंग ने अपनी राजधानी विदिशा में स्थापित की थी, जो आज मध्य प्रदेश के सतना के पास भरहुत नामक स्थान में अवस्थित है। अंग्रेजों के समय भरहुत से पुष्यमित्र शुंग काल का काफी साक्ष्य मिला है। (ज्यादा जानकारी हेतु सम्यक प्रकाशन की पुस्तक वैदिक युग का घालमेल पढ़ें) सबसे बड़ी बात यह है कि आज के भ्रमिक समुदाय ने, अपनी व्यवस्था को मजबूत करने हेतु कहें या अपने विरोधियों को दिग्भ्रमित करने हेतु कहें, इन तीन शासकों में से शुंग और सातवाहन को वैदिक समर्थक शासक बताने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ा है। लेकिन आज तक वैदिक होने का कोई भी पुरातात्विक साक्ष्य किसी ने नहीं दिखाया



है। वहीं दूसरी ओर पश्चिमी क्षेत्रों से आने की वजह से हिन्द बैक्ट्रीयाई शासकों को विदेशी (यमन) शासक बोला जाता है। लेकिन इन तीनों का जो साक्ष्य है वह सभी सम्यक संस्कृति को मजबूत करने वाला है। इसके लिए कोई कितना भी कुछ लिखे या चिल्लाए, लेकिन उत्खनन से प्राप्त पुरातात्विक साक्ष्य को कोई थोड़े ही बदल सकता है।

सबसे पहले पश्चिमी भागों से आने वाले हिन्द बैक्ट्रेरिया के यवन (यूनानी) शासक डेमेट्रियस प्रथम अथवा दमित्र (आज का संस्कारित शब्द)

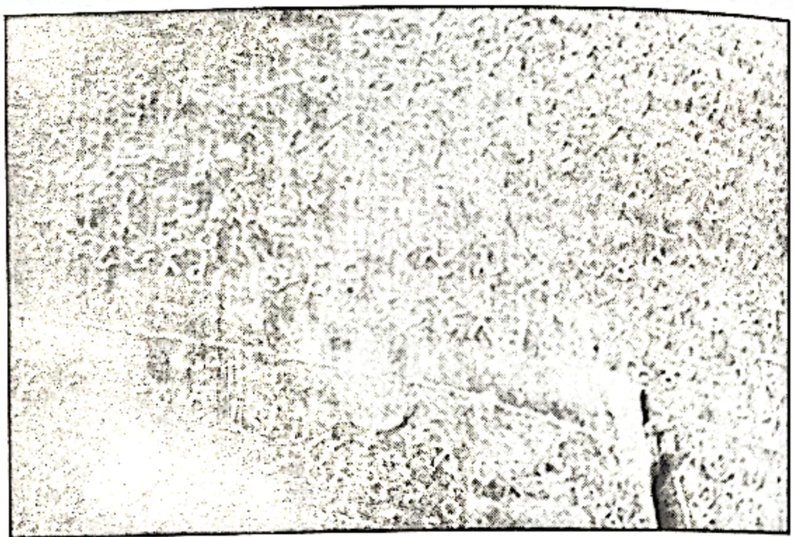


शक का मुद्रा

था। जिस दमित्र के बारे में यह धारणा बैठा दी गयी है कि यह शासक अपने नाम में 'त्र' का उपयोग करता था और साथ ही यह संस्कृत भाषा का लेखन करता था। जबकि उसका स्वयं का नाम लिखा हुआ एक अभिलेख मिला है, जिस पर उसने अपना नाम धम्म लिपि द्वारा **मधुरङ्ग अपयतो यवन राजा दिमित** (४D१'८ ਮ८Iλ ⊥δ1 ११ ५४'λ) लिखवाया था। यानी कि कलम कसाई द्वारा इसके नाम का संस्कार करने से पहले पालि भाषा में इसके नाम का लेखन दिमित स्वरूप में होता था।

जैसे-जैसे मौर्यों की सत्ता कमजोर पड़ रही थी वैसे-वैसे पश्चिम से यूनानी शासक पूर्व और दक्षिण के क्षेत्रों में अपने पैर फैलाते जा रहे थे। यह सिर्फ पुस्तकों द्वारा लिखकर बताने की बात नहीं, बल्कि उसका जीता जागता प्रमाण आज भी देखने को मिलता है। सातवाहन द्वारा पूना और मुम्बई के बीच लोनावाला के पास कार्ला स्थान पर एक गुफा में चैत्य का निर्माण कराया जा रहा था, उस चैत्य निर्माण में यवन द्वारा काफी सहयोग किया गया था साथ ही उस सहयोग की प्रमाणिकता हेतु यवन शासक द्वारा प्रदत्त खंभों में बाह्मी लिपि (धम्म लिपि) द्वारा 'थभो दान' लिखवाया गया था। जिसे आप लोग चित्र में देख व पढ़ सकतें हैं। (¯D⫰ ++C ⊥δ1ᒪ ⊥ᒪδ DII ʘ ¯ɼ ᕲ1· **धेनु काकटा यवनस यसवा धनाना थभो दानङ**)।

इतना ही नहीं, बल्कि यवन शासक सम्यक संस्कृति के अनुयायी थे, इसका प्रमाण उत्खनन में प्राप्त यवन शासक द्वारा प्रचलित कई मुद्रा (सिक्का) में मिला है, जिस पर धम्म चक्र, चैत्य, हाथी का निशान मिला है। उसका सेनापति मिनाण्डर था। मिनान्डर आगे भगवान बुद्ध का अनुयायी बनकर मिलिन्द के नाम से काफी मशहूर हुआ था, जिसके नाम से आज मिलिन्द



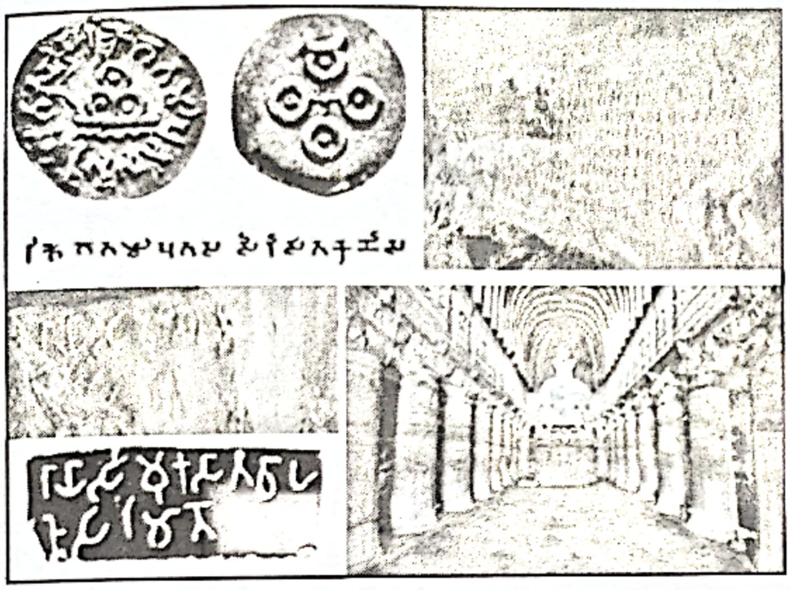
जुनागढ़ अभिलेख

पन्हों नामक पुस्तक काफी प्रसिद्ध है और वह त्रिपिटक (तिपिटक/ʎĽC+) का हिस्सा भी बन चुकी है। पश्चिमी भाग से देश में जितने भी शासक आए, वे सभी लोग समय के साथ सम्यक संस्कृति वाली संस्कृति में विलीन होते चले गए हैं। उसमें से किन्हीं का कोई स्वतंत्र अस्तित्व आगे नहीं बचा। अब जिसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व बचा ही नहीं या बना ही नहीं तो उसको आज कोई अलग नाम व पहचान कैसे दे सकता है? वे सभी लोग विदेशी होते हुए भी आगे इस देश की सम्यक संस्कृति वाली सामाजिक भेष-भूषा में रंगकर देश की मिट्टी में विलीन हो गये थे।

शक शासक द्वारा एक जूनागढ़ अभिलेख लिखा गया था, जिसे आज के भ्रम लेखक संस्कृत का अभिलेख कहते हुए भ्रम का पुलिंदा बना रहे हैं। आप लोग उस लेख की लिपि को देखें।

सातवाहन

सम्राट अशोक के बाद ही दक्षिण-पश्चिम भारत में एक शासक सातवाहन का उदय होता है। सातवाहन वंश का संस्थापक सिमुक था, जिसने अपने नाम का सिक्का (मुद्रा) भी चलाया था, जिसको आप लोग भी देख सकते हैं, जिस मुद्रा पर सम्यक संस्कृति का प्रचलित चैत्य बना हुआ है। जिस पर पालि भाषा में **'रिञ्ञे गोतमि पुतस सिरि सातकनिस'** (ſ' ⁻Ɪh ⁻ΛʎȢ İʎʎ ȡſ' ȡʎ+Ɪ'ȡ) लिखा हुआ है। वैसे तो आज भ्रमिक लोग सातवाहन को भी अपने भ्रमिक समुदाय का अनुयायी बताने से नहीं चुकते हैं, लेकिन प्रमाण ठीक उल्टा मिलता है। आज देश के दक्षिणी क्षेत्रों में बने अजंता, एलोरा जैसे अनेक स्थानों को देख सकते हैं, जिनमें सम्यक संस्कृति की अतिविशिष्ट ज्ञानशैली को दर्शाया गया है। इस निर्माण का सारा श्रेय सातवाहनों को जाता



मुद्रा, सातवाहन का अभिलेख और नाम का अभिलेख, अजंता का फोटो

है। सम्राट अशोक के जैसे सातवाहन के संस्थापक ने भी अपना नाम धम्म लिपि और पालि भाषा में शिला पर उकेर दिया, ताकि आगे मेरे नाम और मेरे काम पर किसी को कोई गलतफहमी नहीं हो। पालि भाषा में वह नाम **'राया सिमुक सातवाहनो सिरिमतो'** (ſ⅃ ८ ४ + ८ ʎ ठ ७ ˉI ८ ſ' ४ ˉʎ) लिखा हुआ है। जिसको आप लोग चित्र में देख सकतें हैं। दूसरी बात, सातवाहन के समय सभी जानकारी को धम्म लिपि और शिलाओं पर लिपिबद्ध किया गया था। यानी इनको भी भ्रमिकों के जैसा कागज का फूल नहीं मिल पाया था।

वैसे तो सातवाहन साम्राज्य सम्यक संस्कृति का बहुत ही बड़ा पोषक शासन था। अपने राज क्षेत्र के अन्दर धम्म लिपि में लिखे हुए बहुत से अभिलेख के साथ चैत्य, मठ, बुद्ध विहार का निर्माण किया था। सातवाहन वंश का उसी धम्म लिपि से लिखा एक अभिलेख मिला है, जो नाणे घाट (महाराष्ट्र) से मिला है। उस अभिलेख पर धम्म लिपि में 'कसन वासुदेवा' (+ᑲI ठᑲˉ⊃ठ) लिखा हुआ है। अब इस नाम को देखकर भ्रमवंशी लेखकों के मुंह में पानी आने लगा है। क्या है कि ये लोग सीधी लकीर में कुछ दूर निशान देखकर रथ के चक्के का अनुमान लगा लेते हैं (राजगीर में जरासंध के रथ के का चक्के निशान), तो कभी सिर्फ चक्का मिल जाने पर उस चक्के को किसी द्वापर युग के पात्र का रथ बताने लगते हैं। किसी की मुद्रा पर घोड़ा का निशान देखकर अश्वमेध यज्ञ कराने लगते हैं। अब भला इन भ्रमवंशियों की कथा-कहानियों के पात्रों के नाम के जैसा यदि कोई नाम मिल जाए तो भला भ्रमवंशी लेखक चुप कैसे रह सकते हैं! इस नाम को देखकर भ्रमवंशी लेखक लगे सुर-ताल मिलाने! लेकिन भ्रमवंशी लेखकों को

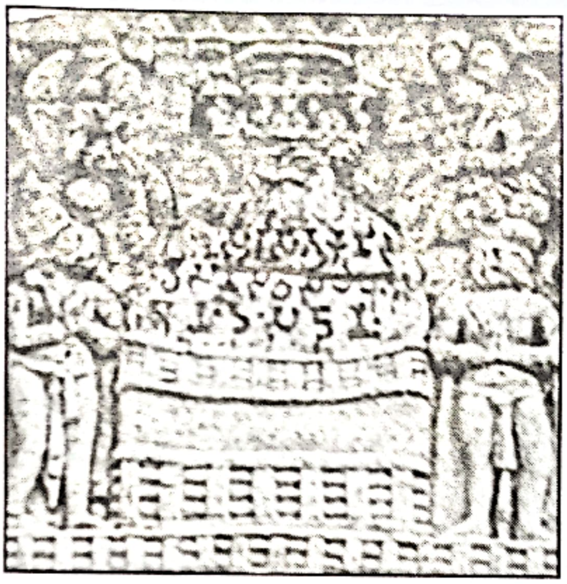


कसन वासुदेवा का अभिलेख

सुर-ताल मिलाने से पहले यह तो बताना चाहिए कि यह सातवाहन शासक के अन्दर 'कसन वासुदेवा' नाम का पात्र आज से कितने वर्ष पूर्व का है और वहीं तुम लोगों द्वारा स्थापित महाभारत का पात्र द्वापर युग का है। द्वापर का समयकाल तो तुम्हीं लोग तय किये हो, फिर दोनों पात्रों के बीच में समय का इतना बड़ा फासला क्यों? चलो माना कि समय की गिनती में तुम लोगों से कोई भूल हो गयी होगी, लेकिन लगे हाथ यह भी तो बता दो कि जब 'कसन' को लिखना या लिखवाना आता था, तभी तो अपना नाम ठाम धाम सहित सारी जानकारी लिखवाया था। अब अगर यह 'किसन' तुम लोगों द्वारा प्रचारित महाभारत की कथा वाला पात्र 'किसन' है तो उसने अपनी बेशकीमती गीता ज्ञान धरोहर को अपने द्वारा लिखित अभिलेख की लिपि (धम्म लिपि) में लिपिबद्ध क्यों नहीं करवाया था?

सच यह है कि आज कुछ तथाकथित भ्रमवंशी लेखक अपने स्वार्थ में अन्धे होकर भ्रम का पुलिंदा बना रहे हैं। अरे, लिखने से पहले कुछ सोचा करो। क्योंकि अब राजपूत और मुगल के दरबार में रहने वाले भ्रम-भाटों की 'अंधेर नगरी चौपट राजा, मूर्ख दरबारी अज्ञानी प्रजा' वाली जानकारी नहीं है। अब यूरोपियन विद्वानों ने भारतीय सम्यक संस्कृति के साक्ष्यों का जखीड़ा खड़ा कर दिया है। तुम लोगों द्वारा भ्रम के ऊपर खड़ी की गई बालू की भीत (काल्पनिक कहानियों का साम्राज्य) अब ढहना (गिरना) शुरू हो गया है। क्योंकि यह भ्रम का पुलिंदा मात्र है। सातवाहन साम्राज्य में ही एक शासक हुए थे जिनका नाम गौतमी पुत्र सतकर्णी था, जिन्होंने अपने नाम को धम्म लिपि द्वारा स्तूप पर लिखा था। नीचे स्तूप का चित्र दिया जा रहा है, इस स्तूप पर ऊपर वाली लाईन में **'सिरि सातकणीस'** (ᛏ.ɪ' ᔕ+ɪ'ᛏ) लिखा हुआ देखा जा सकता है।

आज का 'श्री' शब्द आज की संस्कारित भाषा-लिपि का है, जबकि इसका प्रथम उपयोग सम्यक संस्कृति में मिलता है; जिसको धम्म लिपि में '𑀲𑀺𑀭𑀺' और नागरी लिपि में **'सिरि'** लिखते हुए **'सिरि'** से संबोधन होता था। जिसको आप लोग सातवाहन से प्राप्त अभिलेख, सिक्के व स्तूप पर लिखा हुआ देख सकते हैं। इस सिरि का अर्थ सम्मानीय होता था।



सिरि सातकणीस

तीसरा नाम है **पुष्यमित्र शुंग** का, जिसका भरहुत की खुदाई से काफी साक्ष्य मिला है, जिसमें कोई भी साक्ष्य वैदिक समर्थक होने का नहीं है, फिर भी आज के लोग पुष्यमित्र शुंग को भ्रमिकों का समर्थक बताने पर उतावले रहते हैं। वैसे भरहुत से मिले साक्ष्यों का काफी वर्णन मैं 'वैदिक युग के घालमेल' पुस्तक में कर चुका हूं, जो आप लोग भी देख सकते हैं। पुष्यमित्र शुंग के द्वारा लिखित या शुंग के कार्यकाल में किसी के द्वारा लिखवाई गई किसी भी वैदिक लिपि में संस्कृत का साक्ष्य नहीं मिला उल्टे शुंग (सुग) के नाम का धम्म लिपि में लिखा हुआ एक अभिलेख मिला है, जिसे आप लोग भरहुत के अध्याय में देख सकते हैं। वैसे आज के समय में बहुत से लोग पुष्यमित्र शुंग की राजधानी को साकेत (अयोध्या) में होना निश्चित करते हैं। जबकि अयोध्या की पहली खुदाई अलेग्जेंडर कनिंघम के नेतृत्व में 1862-63 में हुई, इसके बाद सर अलोइस फ्यूरर ने 1889-91 में खुदाई की, जिसमें बुद्ध विहार के अलावा कुछ नहीं मिला था। पुनः प्रो. ए.के. नारायण ने 1969-70 में तीसरी बार खुदाई की, लेकिन फिर भी बुद्ध विहार को छोड़कर कुछ नहीं मिला था। चौथी बार न्यायालय के आदेश अनुसार सन् 2003 में फिर से खुदाई होती है, लेकिन पुष्यमित्र शुंग द्वारा निर्मित कोई किला या कोई अन्य प्रमाण आज तक वहां नहीं मिला है।

भरहुत स्तूप

भरहुत स्तूप मध्यप्रदेश के सतना जिले में सतना रेलवे स्टेशन से 11 किलोमीटर दूर स्थित है। यह स्थान बौद्ध स्तूप के साथ-साथ सम्यक संस्कृति

की कलाकृतियों के लिए काफी प्रसिद्ध रहा है। सर कनिंघम ने सर्वप्रथम 1873 ई. में इस स्थान की खोज की थी। सर कनिंघम के अनुसार भरहुत स्तूप के पास शुंग का राज-किला बना हुआ था। जिसकी बनावट ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी के आस-पास होना माना जाता है। बौद्ध स्तूप के चारों ओर वेदिका एवं तोरणद्वार बने थे। बौद्ध स्तूप के टूटे हुये हिस्से भरहुत में जगह-जगह खुदाई में प्राप्त होते हैं। भरहुत स्तूप के उत्खनन में प्राप्त अवशेष का सर्वाधिक संग्रह कलकत्ता के इण्डियन म्यूजियम में किया गया है। इसके अलावा इलाहाबाद के नगर निगम संग्रहालय के साथ सतना स्थित रामवन संग्रहालय और राष्ट्रीय संग्रहालय दिल्ली में भरहुत में निर्मित स्तूप के खण्डहर तथा अवशेष उपलब्ध हैं।

प्रारंभिक अवस्था में इस स्तूप में ईंट से बने गोलाकार भाग, जिसके चारों ओर वेदिका की बनावट है। वेदिका में चार तोरणद्वार हैं, इसकी मुख्य विशेषता यह है कि यहां के तोरणद्वार एवं वेदिका अन्य स्तूपों की तुलना में अत्यधिक अलंकृत हैं। वेदिका स्तंभों के मध्य में बुद्ध के जीवन से संबंधित कथाओं का अंकन है। चारों दिशाओं में बने तोरणद्वारों में वर्गाकार आधार के साथ दो ऊंचे स्तंभ, अष्टकोणीय स्तंभ, दण्ड, घंटा अथवा कलश आकार के स्तंभ शीर्ष बने हैं। जिनके ऊपर पीठ से पीठ सटाए हुए बैठी हुई सिंहाकृतियां हैं। स्तंभों के ऊपर तीन समानांतर प्रस्तर शिलाएं हैं, जिनके दोनों छोर बाहर की ओर निकले हुए गोलाकर आकृति में हैं। सबसे ऊपरी शिला पर बेलबूटों के ऊपर धर्मचक्र अंकित है। इसके दोनों ओर त्रिरत्न हैं। भरहुत से प्राप्त अवशेषों में बुद्ध के जन्म की कथाओं के दृश्य तथा वृक्ष, वेदिकाएं, पुष्प, जानवरों की आकृतियां आदि रेखांकित कर बनाई गई हैं। बुद्ध के जीवन से संबंधित दृश्यांकन यथा मायादेवी का स्वप्न, श्रावस्ती, जेतवन का उपहार, बुद्ध की पूजा करते हुए ऐरावत के अतिरिक्त बुद्ध के जीवन पर आधारित कथाएं उल्लेखनीय हैं, जिनमें भगवान गौतम बुद्ध की माताजी की कलाकृति हैं जिसे आज के भ्रमवंशी लक्ष्मी माता बता रहें हैं जिसको आप लोग नीचे वेदिका में बनी आकृति को देखें, साथ में उस आकृति के ऊपर में धम्म लिपि द्वारा **भगवतो ऊकंति** (𑀪𑀕𑀯𑀢𑁄 𑀊𑀓𑀁𑀢𑀺) लिखा है, साथ में **वेदिसा तो चेत रखा तस दानं** (𑀯𑁂𑀤𑀺𑀲𑀸 𑀢𑁄 𑀘𑁂𑀢 𑀭𑀔𑀸 𑀢𑀲 𑀤𑀸𑀦𑀁) लिखा है।

भरहुत स्तूप के उत्खनन से इन कलाकृतियों के बीच में कुछ बहुत ही महत्त्वपूर्ण साक्ष्य प्राप्त हुए हैं, जिसकी जानकारी आज सभी को होना आवश्यक



भरहुत स्तूप कलकत्ता की कलाकृति, भगवतो ऊकंति व वेदिसा

है। इन महत्त्वपूर्ण साक्ष्यों में पहला साक्ष्य सप्त बुद्ध की आकृति का है। अभी तक भ्रमिक वैदिक मत के अनुयायियों को इतना ही मालूम है कि मार्गदाता के रूप में सिर्फ भगवान गौतम बुद्ध हुए हैं, लेकिन भरहुत के पुरातात्विक उत्खनन में सप्त बुद्ध की आकृति के साथ-साथ उन बुद्धों का नाम वेदिका के ऊपर शिलापट्ट पर धम्म लिपि में लिखा मिला है, जिसको कोई भी देख व पढ़ सकता है। प्राप्त साक्ष्य नीचे दे रहा हूं। भरहुत स्तूप की वेदिका में लिखा हुआ जो नाम है, उसमें पांच बुद्धों का नाम स्पष्ट पढ़ा जा सकता है, जिसमें क्रमशः पहला शिलापट्ट का नाम **भगवतो ककुसंधस बुधे** (ᚇΛδλ ++ꞁ:Dᑊ.ᑊḌD¯), दुसरा नाम **भगवतो कोनागमनस बुधे** (ᚇΛδλ ¯+IΛ४Iᑊ ḌD¯), तीसरा नाम **भगवतो विपसीनो बोध** (ᚇΛδλ δ ᒐᑊ ¯I ¯□D), चौथा नाम **भगवतो कसपस बुधे** (ᚇΛδλ ¯+ᑊᒐᑊ ḌD¯), पांचवां नाम **शाक्य मुनी बुधे** का है, जो शिलापट्ट पर **भगवतो साक मुनिनी बोधो** (ᚇΛδλ ᑊ+ ४ ¯I ¯□ ¯D¯) लिखा हुआ मिला है। छट्ठां और सातवां नाम जो उत्खनन में मिला है, वह नाम स्पष्ट नहीं होने



सप्त बुद्ध की आकृति

की वजह से आप लोगों के बीच नहीं रख रहा हूं। ऐसे वह नाम सिखी बुद्ध और वेस्सभू बुद्ध का है।

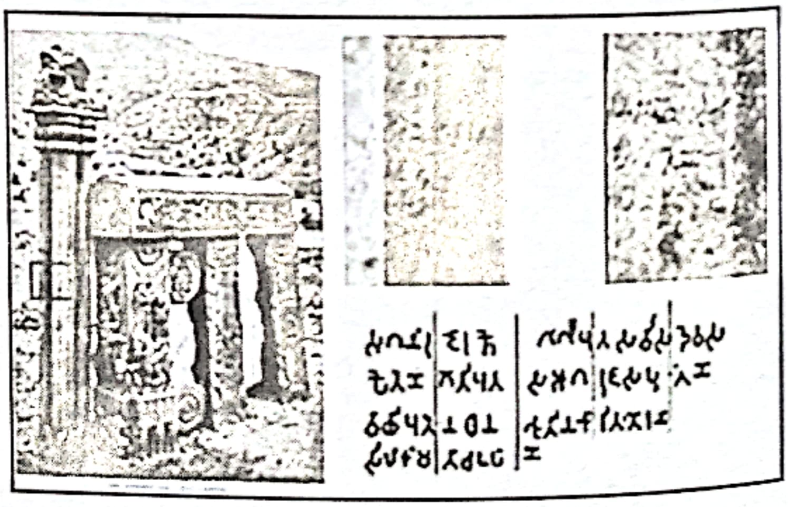
भरहुत स्तूप से एक स्तंभ लेख प्राप्त हुआ है जिस स्तंभ



भरहुत स्तूप में पांच बुद्धों का नाम

पर धम्म लिपि में तोरणद्वार के मरम्मती के बारे में लिखा है। जिस शिलालेख पर धम्म लिपि और पालि भाषा में लिखा हुआ है कि–(ᒐ,ΛI ΓƐI ˉIh ΛˉΛ ᒐ,λᒐ δ'ᒐˉ>δᒐ ˉᒐˉ ˉλI ˉΛλᒐ,λᒐ ΧΛIᒐᒐ ᒐ,ˉλI δδ' ᒐ,ˉλI DI ᒐ,λ'I +I'λ ˉλIΓ' ᒐ'J+8λ d LᒐI) **सुगनङ्ग राजे रन्धे गागीपुतस विसदेवस पोतेण गोतिपुतस आगरजुस पुतेण वाछीपुतेन धन भूतिन कारितं तोरनां सीलाकम्मता च उपन्ण।**

हिन्दी भाषा में अनुवाद–(सुगनङ्ग राजे) शुंग के राज्य में गार्गी पुत्र तथा राजा विश्वदेव के पौत्र, गोप्ति पुत्र तथा अड्.गारद्युत का पुत्र, वात्सय वंश का पुत्र धनभूति के द्वारा यह तोरणद्वार निर्मित किया गया। उससे अध्यात्मिक पुण्य की उपलब्धि हुई।

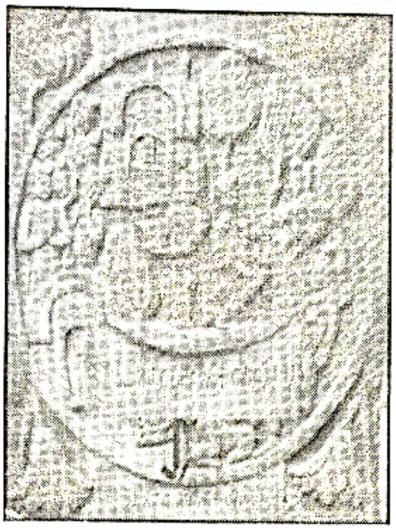


भरहुत स्तूप में शुंग का अभिलेख

इसके साथ ही भरहुत स्तुप की खुदाई में वेदिका में बने सुन्दर कलाकारी के साथ **जेतवन अनाथपिण्डक** (ƐλδI ΧID ˉᒐΓ' ˉ+ ˉ>λ' ˉ+Cᒐ'ᒐ Θ'λI ˉ+λ) का



भरहुत स्तूप में धर्मचक्र



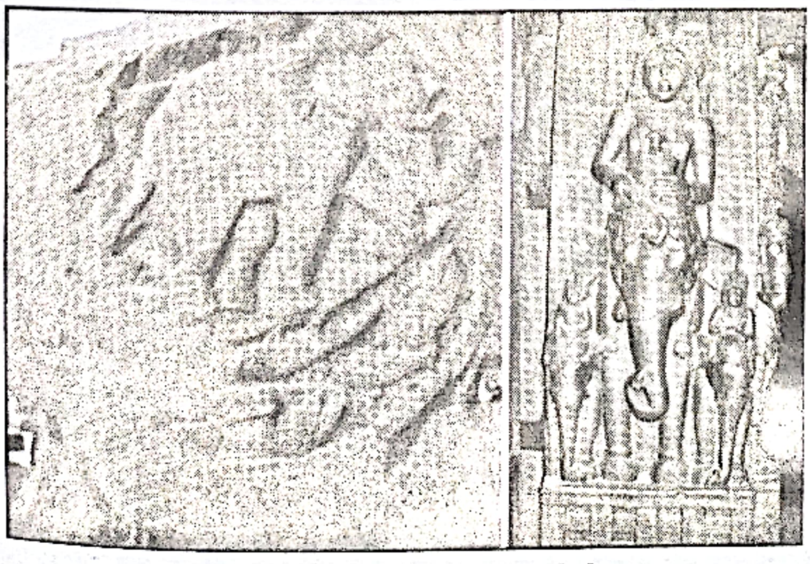
जेतवन अनाथ पिण्डक

मनमोहक दृश्य बना है। साथ ही इसी स्तूप की खुदाई से एक स्तंभ पर बहुत ही मनमोहक चित्रकारी मिली है, जिस पर ऊपर में धम्म-चक्र बना है और साथ में नीचे चार घोड़ों के साथ एक रथ की चित्रकारी है, जिस पर राजा और उनका अमात्य बैठा है। उसके बगल में धम्म लिपि में राजा पसेनजी कोसलो (𑀭𑀸𑀚𑀸 𑀧𑀲𑁂𑀦𑀚𑀻 𑀓𑁄𑀲𑀮𑁄)



राजा पसेनजी कोसलो

लिखा है। यानी इससे प्रतीत होता है कि इस स्तूप का निर्माण राजा प्रसेनजीत के समय में हुआ होगा, जिसको शुंग के समय में भी रख-रखाव के साथ-साथ समय-समय पर सौंदरीकरण होता रहा है। इस उत्खनन से पत्थर पर हाथी बना हुआ मिला है जिस पर धम्म लिपि में नाग जातक (𑀦𑀸𑀕 𑀚𑀸𑀢𑀓) लिखा हुआ अभिलेख मिला है, वहीं दूसरी ओर हाथी पर बैठा हुआ शुंग शासक व उसके दायें और बायें में दो अमात्य का फोटो मिला है, जिस पर धम्म लिपि में कुछ अस्पष्ट लिखा है।



नाग जातक व शुंग का फोटो



भरहुत की खुदाई से शुंग कालीन मुद्रा भी मिली है, जिसमें एक मुद्रा पर **म** (𑀫) लिखा हुआ है और साथ में उस पर त्रिरत्न, चैत्य और स्वस्तिक का निशान बना है, उसके साथ ही एक दुसरी मुद्रा है जिस पर बोधि-वृक्ष बना है और उसके नीचे **इदमितस** (𑀇𑀤𑀫𑀺𑀢𑀲) लिखा है, जिसको आप लोग नीचे चित्र में देखें।



उत्खनन द्वारा पुष्यमित्र शुंग के पक्ष में सम्यक संस्कृति को मजबूत करने वाला इतना बड़े पैमाने पर साक्ष्य मिलने के बाद भी पक्ष और विपक्ष के लोग किसी अन्य कहानी में उलझे हुए हैं, फिर तो यह जरूर आज भ्रमिकों द्वारा फैलाई गयी भ्रम के पुलिंदे का बड़ा परिणाम है। लोग तो यहां तक भ्रमित हैं कि पुष्यमित्र शुंग के दरबार में किसी लेखक द्वारा वैदिक ग्रंथ, रामायण और किसी वैदिक ज्ञानी द्वारा वैदिक दर्शन का निर्माण तक किया गया था। लेकिन आज तक इसका कोई साक्ष्य नहीं दिखाता है!

आप लोग तो जानते हैं और मैं प्रमाण भी दे चुका हूं कि ईसा पूर्व में सभी के लिए लेखन हेतु शिला (पत्थर) का प्रयोग होता था, फिर तो निश्चित ही पुष्यमित्र शुंग के दरबार में अगर किसी ने कुछ लिखा होगा तो वह भी अपना लेखन-कार्य शिला पर ही किया होगा! तब तो पुष्यमित्र

शुंग के दरबार में किसी ने भी कुछ लिखा होगा और उस लिखावट की जानकारी आज लोगों को है, तो निश्चित ही उस लिखावट वाला शिलालेख मिलना चाहिए! कहां है पुष्यमित्र शुंग के दरबार में लिखा हुआ शिलालेख? बिना शिलालेख मिले उसकी जानकारी आज लोगों को कैसे प्राप्त हो गयी?

यह सब भ्रमिकों द्वारा फैलाया हुआ भ्रम का पुलिंदा मात्र है, जिसे आज लोगों को समझना होगा।

ऐसे भ्रमिक समुदाय द्वारा प्रसारित धूर्त साज़िश का ऊपर पर्दाफ़ास किया गया है, कि जब भ्रमिक समुदाय को किसी भी काल या घटना में अपने आपको स्थापित (Implant) करना होता है तो सबसे पहले एक लेखक का नाम तय किया जाता है और उस लेखक का नाम कल्पना द्वारा तय होता है। उस लेखक का वास्तविक जीवन से दूर-दूर तक कोई संबंध नहीं होता है।

अब आप लोग भी इस कहानी को समझें। अंग्रेजों के आने से पहले किसी को भी मौर्य या शुंग वंश के बारे में कोई जानकारी नहीं थी और अंग्रेजों के उत्खनन में ऐसा वैसा कुछ लिखा हुआ कोई शिलालेख भी मिला नहीं है, फिर आज एक नई कहानी का जन्म कैसे हो जाता है?

भ्रमिकों का वही पुराना खेल, भ्रम का पुलिंदा बनाना!

पहले किसी अज्ञात लेखक के नाम पर कुछ लिखो, फिर लेख को साक्ष्य बनाकर दुसरी कहानी लिखो, फिर उस कहानी को तीसरी कहानी में सच्ची प्रामाणिक कहानी बनाकर प्रचारित करो। यहां भी वस्तुतः कुछ वैसा ही खेल खेला गया है। सबसे पहले **दिव्यावदान** नाम की बौद्ध कथाओं पर आधारित एक पुस्तक लिखी गयी, जिसमें विनय पिटक और सुत्त-पिटक का वर्णन है। लेकिन इसके लेखन काल से लेकर लेखक तक का नाम अज्ञात है। इसकी रचना कब की गयी है, यह आज तक किसी को पता नहीं है। दूसरी बात यह कि पुस्तक किसी शिलालेख या ताम्र-पत्र पर नहीं प्राप्त होकर, सीधे कागज की पाण्डुलिपि स्वरूप में और नागरी लिपि द्वारा लिखी मिली है। अब आप लोग थोड़ा-थोड़ा कहानी समझ गए होंगे कि यह कब लिखी गई होगी! इस दिव्यावदान पुस्तक अनुसार मौर्य कालीन सम्राटों का अन्तिम उत्तराधिकारी पुष्यमित्र शुंग को बताया गया है। सबसे बड़ी बात यह है कि दिव्यावदान

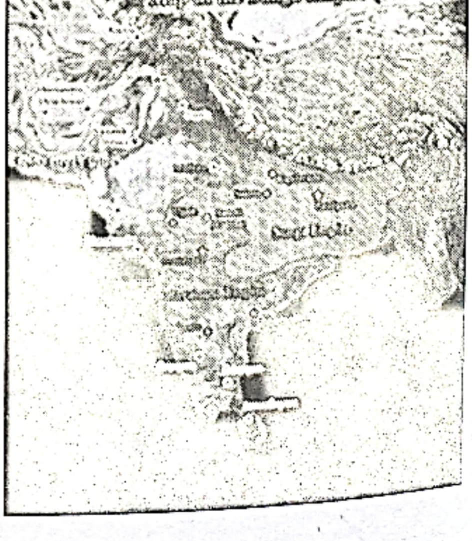
पुस्तक अनुसार सम्राट अशोक का उत्तराधिकारी इस प्रकार बताया गया है—**कुणाल, सम्प्रति, वृहस्पति, वृषसेन, पुष्यधर्मन, पुष्यमित्र।** जब दिव्यावदान पुस्तक प्रमाणिक है तो इसे क्या कहेंगे? आप लोग अब समझ गये होंगे कि कलम कसाई द्वारा भ्रम का पुलिंदा कैसे बनाया जाता है।

बस! शुंग के नाम पर भ्रम का पुलिंदा बनना या बनाना ऐसी ही शुरू हुआ है।

आज कलम कसाई द्वारा निर्मित भ्रम का पुलिंदा की वजह से ही काफी लोग शुंग राजा को इधर-उधर खोजने का प्रयास करते रहते हैं, जो कि सर्वथा अनुचित है। वस्तुतः जिस व्यक्ति का रहने का जो स्थान निश्चित होता है उसे वहीं खोजना चाहिए, अन्यथा उसके रहने के स्थान को छोड़ कर इधर-उधर स्थानों पर वैसे नाम के व्यक्ति को ढूढ़ा जाए तो निश्चित ही दूसरे स्थानों पर वैसे व्यक्ति का मिलना सम्भव नहीं होगा या दूसरे स्थानों पर वैसे व्यक्ति के हमनाम व्यक्ति के मिलने की संभावना ज्यादा बन जाएगी।

बात शुंग वंश के संस्थापक पुष्यमित्र शुंग को खोजने की चल रही है, इसलिए शुंग वंश को खोजने का सबसे बेहतर तरीका यह होगा कि शुंग शासक ने पूर्व के मौर्य वंश के अंतिम शासक बृहद्रथ मौर्य से कौन-सा क्षेत्र प्राप्त किया था? क्योंकि पुष्यमित्र शुंग ने जो राज्य सीमा प्राप्त की होगी, स्वाभाविक तौर पर उसकी राज सत्ता उसी क्षेत्र में होगी। फिर पुष्यमित्र शुंग को भी उसी क्षेत्र में खोजा जाए, वह निश्चित ही मिलेगा।

शुंग वंश ने मौर्य वंश से सत्ता प्राप्त की थी, लेकिन उस सत्ता प्राप्ति में क्षेत्रफल कितना था, यह ध्यान देने की बात है।



विश्व के इतिहास में मौर्य वंश का शासन अद्वितीय व अतुलनीय रहा है। यह एक अटल सत्य है। इसको कोई नकार नहीं सकता है। जिसका काल ईसा पूर्व 322 वर्ष से लेकर ईसा पूर्व 185 वर्ष तक था। (आकड़ा लगभग में) यानी मौर्य वंश कुल 137 वर्ष तक सत्ता में रहा। जिस 137 वर्ष में मौर्य वंश के दस सम्राट हुए

थे। इन दस में भी तीन यानी चन्द्रगुप्त मौर्य, बिंदुसार मौर्य, सम्राट अशोक का तो कहना ही क्या। इन तीनों ने दिन दूना रात चौगना के हिसाब से जनकल्याण का कार्य करते हुए अपने साम्राज्य का विशाल क्षेत्र खड़ा किया था और तीनों ने मिलकर 137 वर्ष में से सबसे लम्बा 90 वर्ष तक सत्ता पर बैठ कर जनसेवा करने का कार्य किया था। लेकिन 137 में से शेष बचे 47 वर्ष में मौर्य राजाओं की 7 पीढ़ी गुजर गई। जिसमें सबसे कम सम्राट अशोक के बाद कुणाल मौर्य 4 वर्ष, उसके बाद सम्प्रति मौर्य 4 वर्ष और अंतिम बृहद्रथ मौर्य 2 वर्ष शासन किये। आंकड़ा दिखाने का उद्देश्य किसी को नीचा करना नहीं, बल्कि वास्तविकता से रूबरू कराना था कि सम्राट अशोक के बाद ही दक्षिण में नर्मदा नदी तक सातवाहन और पश्चिम में मथुरा तक यवन का शासन खड़ा हो गया था।

जिसे राय सिमुक सातवाहन और यवन का लेख चित्र में देख सकते हैं।

अब जो क्षेत्र मौर्य के पास बचा था वह मगध, विदिशा, कोसल, वज्जिका, अंग, बंग और कलिंग था, फिर तो पुष्यमित्र शुंग को भी इसी क्षेत्र के अन्दर कहीं होना चाहिए।

पुष्यमित्र शुंग ने अपनी राजधानी मौर्य की उप राजधानी विदिशा को बनाया था। विदिशा के अंदर आज भरहुत, सांची और देवकोठार (देउर कोठार) अवस्थित हैं। जिसके बारे में पुरातत्व विभाग के विद्वान सर कनिंघम ने पक्ष-विपक्ष से रहित वास्तविक विश्लेषण भी किया है। जिस विश्लेषण को भरहुत गैलरी

भरहुत गैलरी

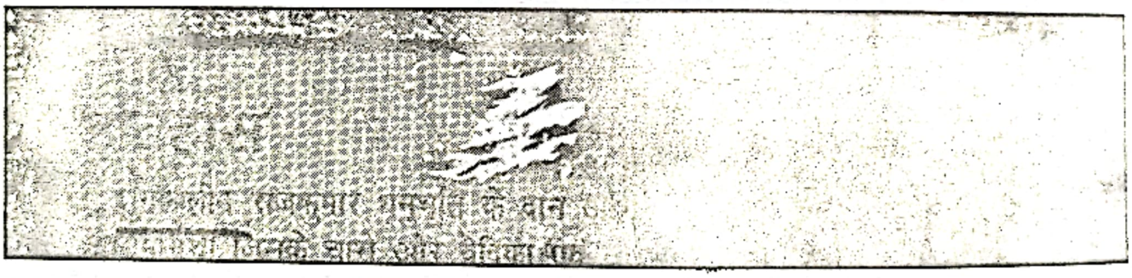
मध्य प्रदेश के सतना के समीप भरहुत गांव में 1873 ई. में एक विशाल बौद्ध स्तूप के पूर्वी तोरण तथा दीर्घ स्तंभ का खोज मिला। 1878 ई. में उसी स्तूप के अवशेष को आम जनता को देखने के लिए भारतीय संग्रहालय की भरहुत गैलरी में रखा गया। 9 फीट ऊंची यह दीवार स्तम्भ, सूची एवं विभिन्न प्रकार की स्थापत्य कलाओं से भरी है। पूर्वी तोरण की ऊंचाई 23 फीट है। इसके अलावे और भी तीन तोरण-द्वार थे जो आज मौजूद नहीं हैं।

लाल-बलुआ पत्थर से निर्मित इस दीवार के स्तंभों में भगवान बुद्ध के जन्म से पहले की जातक कहानियां, यक्ष-यक्षी एवं देवताओं की मूर्तियां खुदी हैं। इसके अलावे इसमें फूल-पत्ते तथा पशु-पक्षियों के विचित्र दृश्य भी मौजूद हैं। ई. पू. 2री-1ली शताब्दी में निर्मित भरहुत का यह पुरातात्विक निदर्शन उस जमाने की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक इतिहास के पुनर्निर्माण का एक अविस्मरणीय उपादान है। भरहुत की स्थापत्य कला उस युग के लोक-कला की अद्भुत गाथा है। इसमें अनेक दृश्य ऐसे हैं जो ई. पू. 2 री सदी की ब्राह्मी लिपि में अंकित हैं। इसके अलावे जिनकी आर्थिक सहायता से यह स्तूप निर्मित हुआ था उनके नाम भी इस स्तूप में अंकित हैं। तोरण की एक स्तंभलिपि से ज्ञात होता है कि शुंग राजा के जमाने में वात्सीपुत्र धनभूति ने इसका निर्माण किया था।

कलकत्ता में देखा जा सकता है। जिसमें स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि यह सारा कुछ शुंगकालीन है।

भरहुत से खुदाई में जो स्तम्भ लेख मिला था उसे आप लोग पूर्व के पृष्ठ पर देखें और पढ़े भी होंगे। जिस पर साफ शब्दों में लिखा है शुंगों के राज में।

अब सबसे बड़ी बात यह है कि जिस व्यक्ति का पठनीय और दर्शनीय साक्ष्य सम्यक संस्कृति के पक्ष में है और जिसके विरुद्ध आज तक एक भी पुरातात्विक साक्ष्य सम्यक संस्कृति के विपरीत नहीं हैं। राजतंत्र में राज सत्ता की प्राप्ति हत्या से होती है। यह कोई बड़ी बात नहीं है। जैसे कलिंग का शासक भी सम्यक संस्कृति का वाहक था फिर भी सम्राट अशोक ने उस कलिंग राजा की हत्या करते हुए उस पर विजय प्राप्त कर अपनी सत्ता स्थापित की थी। इसका अर्थ क्या लगाया जाए कि इन दोनों में एक भ्रमिक संस्कृति का अनुयायी था और एक सम्यक संस्कृति का अनुयायी था? मित्रों राज-तंत्र में सत्ता प्राप्ति के लिए पिता-पुत्र के साथ भी युद्ध की कई घटनाएं प्रसिद्ध हैं। इसलिए राज-तंत्र में सत्ता प्राप्ति के लिए हत्या प्रतिहत्या को एक स्वाभाविक क्रिया-प्रतिक्रिया माना जाता है। इसमें व्याकुल होने या दिग्भ्रमित होने की कोई बात नहीं है।



मेरा कहना है कि भ्रम का पुलिंदा में वर्णित तथ्यों को पढ़ें, उसके बाद उन साक्ष्यों का अवलोकन करें। ऐसे ही किसी पूर्वाग्रह की धारणा व अहम की वजह से कुछ कहना उचित नहीं होगा।

कालीदास

अब भ्रमिकों द्वारा एक दूसरे लेखक को स्थापित किया जाता है, जिसका नाम है कालीदास। कालीदास का जन्म काल और जन्म स्थान के बारे आज तक किसी को स्पष्ट पता नहीं है। कालीदास किस ईस्वी में और किस स्थान पर पैदा लिए और किस विद्यालय में पढ़कर कब विद्वान लेखक बन गये, यह एक अबूझ पहेली बनी हुई है। तीसरी सबसे अहम

बात यह कि कालीदास द्वारा लिखित सारी रचना कागज पर और वैदिक संस्कृत में है। आप लोगों को पता ही होगा कि कागज और वैदिक संस्कृत की लिपि कब बनी है?

कालीदास का लिखा हुआ संस्कृत का एक नाटक **मालविकाग्निमित्रम्** है। इस नाटक में मालवदेश की राजकुमारी और विदिशा के राजकुमार अग्निमित्र शुंग नाम के पात्र का वर्णन है। यह नाटक का संबंध महलों में चलने वाले प्रणय संबंधों का उन्मूलन करने से है। फिर भी भ्रमिक समुदाय को किसी काल और किसी स्थान में स्थापित होना था, सो वह हो गया। कालीदास का दूसरा संस्कृत नाटक **अभिज्ञानशाकुंतलम्** आज काफी प्रसिद्ध है। कालीदास की विश्वासनीयता इसी से समझ सकते हैं कि अभिज्ञानशाकुन्तलम् में ऋषि विश्वामित्र की बेटी शकुन्तला का वर्णन है। यह वही विश्वामित्र और शकुन्तला है जो वेदों के पात्र रहे हैं। वहीं कालीदास की तीसरी रचना **रघुवंशम्** में रघुकुल के राजाओं का वर्णन है। ऐसे कालीदास के नाम से संस्कृत में लिखा हुआ काफी नाटक मिलता है।

मौर्य काल के बाद गुप्त काल का बड़े पैमाने पर साक्ष्य मिलता है। उस समय देश में ज्ञान-विज्ञान हेतु शिक्षा के काफी विश्वविख्यात केन्द्र हुआ करते थे, जिसमें देशी-विदेशी विद्यार्थी अध्ययन अध्यापन करने आते थे। उसी गुप्त काल में इत्सींग और फाहियान यहां आए थे, जिनका यात्रा वृतांत आज काफी प्रसिद्ध है। उस यात्रा वृतांत में कहीं भी कवि कालीदास लेखक या उसके द्वारा प्रयुक्त संस्कृत भाषा का उल्लेख नहीं मिलता है। गुप्त काल के बाद एक और यात्री ह्वेनसांग का आना होता है, लेकिन इनके यात्रा वृतांत में भी किसी कालीदास का वर्णन नहीं आता है।

गुप्त काल में सम्यक संस्कृति की महानता वाली जानकारी हो और उसमें भ्रमिक वंश का कोई योगदान नहीं हो, भला यह कैसे होने वाला है। इसी कमी को पूरा करने हेतु भ्रमिक वंश के एक अज्ञात कवि कालीदास को बैठाया जाता है, जिससे एक तीर से दो शिकार हो रहा है; एक तो स्वयं राजदरबारी बनकर गुप्त शासक का श्रेय लिया गया तो वहीं उस दरबारी लेखक के लेखन से शुंग को भी वैदिक समर्थक सत्यापित कर दिया गया। इस वजह से आज कवि कालीदास की महानता गुप्तकाल के दरबार से जोड़कर काफी प्रचारित की जाती है। यह वही गुप्त शासक हैं

जिनकी जानकारी अंग्रेजों के द्वारा खुदाई से मालूम हुई है। लेकिन आज तक गुप्तकाल का दरबार (राज महल) नहीं मिला है। फिर भी भ्रमिकों ने अपने पूर्वज को गुप्त दरबार में कवि के रूप में प्रकट करवा दिया। आप लोगों को इस बात की जानकारी पर बहुत आश्चर्य होगा कि कालीदास ने गुप्त सम्राट के दरबार में दरबारी रहते हुए लेखन का कार्य किया, लेकिन कालीदास ने अपने किसी भी नाटक में गुप्त वंश के किसी शासक का उल्लेख नहीं किया है। अब क्यों नहीं किया, इससे भी आप लोग कुछ समझें!

आज उसी संस्कृत भाषा और कागज पर रचित नाटक के अन्दर शुंग को संस्कृत भाषा में वार्तालाप करने वाला पात्र होने के कारण लोग उसे भ्रमिक समुदाय का पात्र प्रत्यारोपित (Implant) करने लगे हैं। जो केवल भ्रमिक कलम कसाई द्वारा निर्मित भ्रम का पुलिंदा मात्र है।

वहीं आज कुछ लोग बड़े ही दावे के साथ पुष्यमित्र शुंग के दरबार में **पतंजलि** नाम के एक दरबारी को स्थापित करते हैं। स्थापित करते हैं तो कोई बात नहीं है, लेकिन उस पतंजलि के नाम पर कुछ रचना भी होने लगती है। आखिर पतंजलि की यह सब रचना ईसा पूर्व किस लिपि में हुई और उस रचना का लेखन किस वस्तु पर हुआ? क्योंकि पतंजलि पुष्यमित्र शुंग के दरबार का दरबारी है और पुष्यमित्र शुंग ने स्वयं अपने लेखन हेतु धम्म लिपि और पत्थर का उपयोग किया है, जो आज उत्खनन से काफी मात्रा में मिला है, लेकिन पतंजलि की लिखी हुई एक भी रचना अंग्रेजी विद्वानों को उत्खनन से नहीं मिली है। आज योग सूत्र का होना कोई प्रश्न नहीं है, बल्कि प्रश्न यह है कि पतंजलि के नाम से योग सूत्र की रचना ईसा पूर्व किस लिपि और किस वस्तु पर की गई?

देश के अन्दर उत्खनन द्वारा कई विश्वविद्यालयों के साक्ष्य मिलें हैं। जहां तन की शुद्धि हेतु योग और मन की शुद्धि हेतु विपश्यना साधना का साक्ष्य मिला है, लेकिन दुर्भाग्यवश किसी भी जगह से किसी पतंजलि का **पातंजली योग सूत्र** नाम का कोई साक्ष्य नहीं मिला है। आखिर ऐसा क्यों? आज जब पातंजलि के नाम से कई लेखकों द्वारा लिखी पुस्तक बाजार में उपलब्ध है, तो फिर इन लोगों को आखिर किस स्त्रोत से पातंजलि के योग दर्शन की जानकारी मिली? पातंजलि का मूल अभिलेख आज कहां है? किस लिपि,

किस भाषा और किस वस्तु पर लिखा गया? यह लोगों को बताते हुए इस पर भी प्रकाश डालना चाहिए! नहीं तो इसे भ्रमवंशियों का धूर्ततापूर्ण ज्ञान कहा जाएगा और भ्रमित लोगों का सरल स्वभाव होने के कारण भ्रमवंशियों द्वारा फैलाया गया भ्रम का पुलिंदा वाला ज्ञान ही कहा जाएगा!

ऐसे भ्रमवंशियों में से एक विख्यात लेखक **रामचन्द्र दीक्षित** ने अपने द्वारा 1934 ई. में रचित **पतंजलि चरित** नामक ग्रन्थ में लिखते हैं कि 788 ईस्वी में जन्मे आदि शंकर के दादा आचार्य गौड़पाद पतंजलि के शिष्य थे। अब इस बात का अनुमान तो सबको हो गया होगा कि आदि शंकर का जन्म जब 788 ईस्वी में हुआ था, तो उसके दादा का जन्म ईसा से पूर्व तो कतई नहीं हुआ होगा। बहुत ही जोड़-तोड़ किया जाए तो गौड़पाद की उम्र 700 ईस्वी के लगभग हो सकती है, लेकिन यहां तो भ्रमवंशियों का सारा खेल एक कल्पना पर चलता है। वहीं **विद्यारण्य स्वामी** ने अपने ग्रंथ **शंकर दिग्विजय** में आदि शंकराचार्य के गुरु गोविंद पादाचार्य को पतंजलि का रूपांतरित रूप माना है।

भ्रमवंशियों द्वारा रचित कहानी यहीं खत्म नहीं होती है। इन लोगों द्वारा जो भी कथा-कहानी वाली संस्कृति स्थापित की गयी है लगभग सभी का समय पाषाण युग से भी काफी पूर्व का रहा है। अब पाषाण युग की आदिम व्यवस्था से तो आप लोग परिचित हैं ही। इस पूर्व पाषाण युग को सही अर्थों में देखा जाए, तो इस समय तक समुचित रूप से भोजन, वस्त्र, आवास, लिपि, मुद्रा आदि कुछ भी विकसित नहीं हो पाया था, फिर भी भ्रमवंशियों द्वारा करोड़ों वर्ष पूर्व में जाकर उन्नत (सतयुग, द्वापरयुग, त्रेतायुग) युग स्थापित किया जाता है। उसी उन्नत युग वाली कहानी में से एक सतयुग वाली कहानी रामायण को पुष्यमित्र शुंग के दरबार में बाल्मीकि नाम के लेखक द्वारा लिपिबद्ध करवा देते हैं। अब पुष्यमित्र शुंग के समय तक लेखन हेतु सिर्फ शिला (पत्थर) का ही प्रयोग सभी लोगों द्वारा हुआ है। दूसरी बात, पुष्यमित्र शुंग के समय तक लेखन हेतु जिस लिपि का उपयोग सभी द्वारा किया गया है उस लिपि की वर्णमाला धम्म लिपि की है। इस बात को तो आप लोग भी देख रहें है, **फिर बाल्मीकि द्वारा पत्थर पर लिखी हुई धम्म लिपि वाली रामायण आज कहां है?**

पुष्यमित्र शुंग का अंतिम शासक देवभूति शुंग था, जिसे राज-सत्ता का समुचित संचालन नहीं कर पाने की वजह से उसका अमात्य (महामंत्री) वासुदेव कण्व उसकी (देवभूति शुंग) हत्या करते हुए सत्तासीन हो गया था। परन्तु देश के पश्चिमी भाग से हिन्द बैक्ट्रियाई, शक, पहलव और कुषाण और दक्षिणी भाग से सातवाहन के दबाव के कारण कण्व वंश मात्र 40-45 वर्ष में ही समाप्त हो गया था।

कण्व वंश की समाप्ति के बाद पश्चिमी शासकों में शक शासक ही सबसे शक्तिशाली शासक बचा था। शक शासक में रूद्रदमन द्वारा किए गए कार्यों का काफी साक्ष्य आज मिलता है। जिसमें रुद्रदमन की मुद्रा और लिखित अभिलेख आज काफी प्रमुख है, जिसको आप लोग भी देख सकते हैं। रुद्रदमन के द्वारा जो भी लिपिबद्ध किया गया है वह सभी धम्म लिपि और शिला पर हुआ है।



रूद्रादमण की मुद्रा और अभिलेख

ईस्वी सन् से पूर्व में भ्रमवंशियों के साजिश को देखकर, हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा लिखित 'अशोक के फूल' नामक पुस्तक, जो प्रकाशक मार्तण्ड उपाध्याय, मंत्री सस्ता साहित्य, नयी दिल्ली, मुद्रक अमरचन्द्र राजहंस प्रेस दिल्ली से 1948 में प्रकाशित है, उसके अध्याय 13 में पुरानी पोथियां के नाम से लिखित एक वाक्य याद आ गया। इस अध्याय के माध्यम से हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं कि चौदहवीं शताब्दी में फिरोशाह तुगलक ने बड़े मेहनत से टोपरा और मेरठ से सम्राट अशोक द्वारा लिखित लेख वाले दो विशाल स्तंभ को उठाकर मंगवाए थे, परन्तु उस समय इस प्राकृत लिपि (धम्म लिपि) वाली लिखावट को पढ़ने वाला कोई भ्रम ज्ञानी विद्वान नहीं मिला था। बाद में अकबर ने इस लेख का आशय जानना चाहा, लेकिन उसके दरबार के नवरत्नों (पंडित बीरबल) सहित उस समय के अन्य विद्वान लोगों में कोई भी प्राचीन समय की लिपियों को पढ़ने वाला नहीं मिला था।

जबकि वेदों पर पहला भाष्य करने वाला सायन विद्वान से लेकर रामानन्दी सम्प्रदाय को स्थापित करने वाला स्वयं रामानंद और रामायण का लेखन करने वाले तुलसीदास जैसे तथाकथित प्रकांड विद्वान लोग मौजूद थे। फिर भी उन सभी के गुरु-चेला लोग उस लिपि को पढ़ नहीं पाए थे। जबकि आज के छापाखानों से प्रकाशित पुस्तकों में प्राचीन लिपियों को जानने वाले एक से एक अज्ञात विद्वान लेखक खड़े मिलते हैं, जो इन लिपियों से अलग ही एक नई कहानी को प्रकट करते हैं।

इसी कड़ी में द्विवेदी जी कहते हैं कि सर विलियम जोंस ने जब सम्राट अशोक की लिपि को पढ़ने हेतु बनारस के तात्कालिक गर्वनर के पास इस अभिलेख का छाप भेजा, तो उस छाप को पढ़ने हेतु गर्वनर ने उसे बनारस (काशी) के नामी विद्वान के पास भेजा। काशी तो भंग भ्रमिक विद्वानों की नगरी है। वहां के सबसे तेज भंग भ्रमिक विद्वान पंडित ने इस लेख को देखकर सहज तरीके से महाभारत के पाण्डु पुत्र युधिष्ठिर द्वारा वनवास के समय का लिखित लेख कहकर पढ़ दिया और साथ ही उन सभी लिपियों का जाली अनुवाद पोथी भी तैयार कर दिया।

लेकिन अंग्रेजी विद्वानों को भंग भ्रमिक की गपोड़ता पर विश्वास नहीं हुआ। इसी कड़ी में अंग्रेजी विद्वानों द्वारा पूर्व के रहे सभी अभिलेखों को पढ़ने का प्रयास सतत जारी रखा। अंततः 1834 ईस्वी में कप्तान ट्रायर ने प्रयाग वाले अशोक स्तंभ पर खुदे समुद्रगुप्त द्वारा अंकित लेख का कुछ अंश पढ़ने में सफलता प्राप्त कर ली, जिसे आगे उसी वर्ष डॉक्टर मिल ने पूरा पढ़कर कर दिया। उसके बाद गाजीपुर जिले के सैदपुर भीतरी नामक गांव से स्कन्द गुप्त का लिखा हुआ एक स्तंभ लेख मिला था, जिसको 1837 ई. में डॉक्टर मिल ने पूरा पढ़ लिया था। उसके बाद 1837 ई. में धम्म लिपि को जेम्स प्रिंसेप ने भी पढ़ लिया था। अब तो धम्म लिपि के पढ़े जाने से भंग भ्रमिकों का सारा खेल खत्म होने लगा था। मौर्य काल की सारी उत्कृष्ट सम्यक संस्कृति की जानकारी अब लोगों को भी होने लगी थी, यह सब भ्रमवंशियों को अपच होने लगा था।

एक पुस्तक 'प्राचीन भारत एक रूपरेखा' लेखक डी.एन. झा, पीपुल्स पब्लीशिंग हाउस (नई दिल्ली) से प्रकाशित है। जिसमें लेखक अपनी प्रस्तावना में प्रथम पृष्ठ की प्रथम पंक्ति में ही लिखता है कि प्राचीन भारत

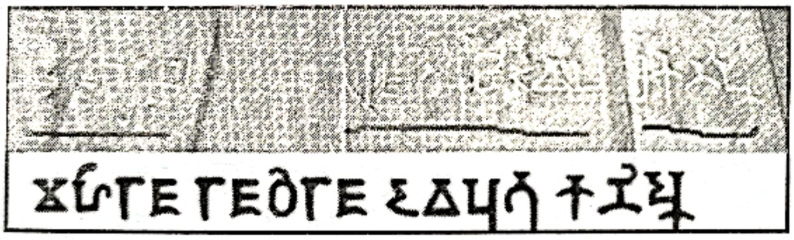
का इतिहास लिखने का काम प्रायः आंग्ल ईस्ट इण्डिया कंपनी की स्थापना के बाद अठारहवीं शदाब्दी में शुरू हुआ। यानी कि लेखक डी.एन. झा के अनुसार गाल बजाने वाले भ्रमवंशियों को अंग्रेजों के आने से पहले कुछ भी जानकारी नहीं थी। जिन ब्रिटिश प्रशासकों ने प्राचीन भारत का इतिहास लिखा है, उनमें विन्सेण्ट ए. स्मिथ सबसे प्रमुख हैं।

इसी वजह से भ्रमवंशियों द्वारा हर दिन एक नये अज्ञात लेखक द्वारा अंग्रेजों के बताए इतिहास में एक पात्र को स्थापित करते हुए भ्रम के पुलिंदा को जन्म देने का काम शुरू हो गया था।

- आप लोगों ने ईस्वी सन् तक के सम्राटों और विद्वानों द्वारा लिखित सारा कुछ साक्ष्य देखा, जिसमें लेखन हेतु जिस वस्तु का प्रयोग इन लोगों ने किया है या ईस्वी सन् तक उपलब्ध था, वह सभी शिलापट्ट (पत्थर) में लिखा है और लेखन हेतु जिस लिपि का प्रयोग हुआ है वह सब धम्म लिपि में है। फिर ईस्वी सन् से पूर्व में जितने भी लेखक हुए हैं और जिनके नाम पर आज लेखन होने का दावा किया जा रहा है, वैसे सभी ज्ञात-अज्ञात लेखकों का लिखा हुआ साक्ष्य (शिलापट्ट और धम्म लिपि) तो मिलना चाहिए? अगर किसी कारण वश वह लिखा हुआ शिलापट्ट आज तक नहीं मिला, तो फिर उस लेखक ने अपने शिलापट्ट में क्या लिखा, इसकी जानकारी आज के लेखकों को या अन्य लोगों को कैसे मालूम हो गयी? आखिर लेखक ने तो उन सभी की जानकारी को अपने पुस्तक में कलमबद्ध करने का काम भी किया है। अब आप लोगों को ही तय करना है कि ईसा पूर्व में वेदव्यास, पाणिनि, पतंजलि और बाल्मीकि के नाम पर बतायी गयी जानकारी सही है या आज के ज्ञात-अज्ञात लेखकों का भ्रम का पुलिंदा मात्र है?
- क्योंकि आज वर्तमान में इन सभी ज्ञात-अज्ञात लेखकों के नाम को उद्धृत करते हुए, आज के ज्ञात लेखकों द्वारा कागज और नागरी लिपि पर लिखी हुई पाण्डुलिपि उपस्थित है। फिर यह कागज पर लिखने वाले लेखक किस स्रोत से यह बात दावे के साथ लिखकर लोगों को दिग्भ्रमित कर रहे हैं?
- भ्रमवंशियों का भ्रम का पुलिंदा बहुत ही घातक है, लेकिन ज्यादा पुराना होने की वजह से मन की गहराई में बैठ गया है, उसको बाहर करना पड़ेगा।

➢ राजतंत्र में एक राजा का दूसरे के राज क्षेत्र में आक्रमण करना और उस क्षेत्र के राजा को नीचा दिखाने हेतु, उसके राज्यक्षेत्र में प्रमुख स्थल या जनता का भावनात्मक लगाव वाले स्थल को नुकसान पहुंचाना अलग बात है। लेकिन ईस्वी सन् से पूर्व किसी भी शासक ने अपने कार्यकाल में सम्यक संस्कृति से अलग कोई दूसरी संस्कृति का पठनीय या अपठनीय (दर्शनीय) साक्ष्य नहीं छोड़ा है।

अब बात ईस्वी सन् के बाद की आती है, जब शक वंश की पकड़ सत्ता से कम हो रही थी। उसी समय एक ओर उत्तरी-पश्चिमी भागों से यू ची जन-जाति का विदेशी शासक का यहां आगमन होता है, जिसका नाम कुजुला कडफिसेस था, जिसे आज कुषाण वंश के रूप में जाना जाता है। कुषाण वंश ने अपनी दो राजधानी बनाई थी, जिसमें पहला पेशावर तो दूसरा मथुरा को चुना था। वैसे तो मथुरा नगर की बसावट कब हुई थी इसकी कोई प्रामाणिक जानकारी नहीं मिलती है, लेकिन मथुरा नगर का विकास व सौन्दरीकरण करते



हुए, वृहद् नगर का स्वरूप किसने दिया था, इसका पुरातात्विक रूप से पुख्ता प्रमाण मिलता है। मथुरा नगर के आस-पास सर कनिंघम के समय काफी उत्खनन हुआ था। जिस उत्खनन में विशाल नगर का साक्ष्य मिला है और साथ ही उस उत्खनन में विभिन्न प्रकार की बौद्ध सामग्री (सौजन्य- मथुरा संग्रालय) सहित बाह्मी लिपि में लिखित एक अभिलेख मिला है, जिस पर बाह्मी लिपि में **महाराजे राजधिराज देव पुतस कनिस्क** (४७ ऽ ६ ६६ D'६६ ¯७८ ʎℓ +Iℓ+) लिखा हुआ प्राप्त हुआ है।

इससे स्पष्ट होता है कि मथुरा नगर कुषाण वंश की राजधानी थी और उस समय बौद्ध संस्कृति (सम्यक काल) अपने ऊच्चतम शिखर पर थी, जिसका प्रबल समर्थक कुषाण वंश का शासक सम्राट कनिष्क था। यानी इसको ऐसे भी कह सकतें है कि सम्राट अशोक और सम्राट मिलिंद (मिनाण्डर) के बाद भगवान गौतम बुद्ध का सबसे बड़े अनुयायी कुषाण वंश में सम्राट कनिष्क हुए थे। प्राप्त लिखित अभिलेख में 'देव' शब्द का वर्णन



सम्राट कनिष्क

आया है, इस देव से यह भी प्रमाणित होता है कि सम्यक संस्कृति में अरहत भिक्खु के अलावा बोधिसत्त्व उपाधि धारक को भी देव कहा जाता था। **महाराजे राजधिराज देव पुतस कनिस्क** (४ᒐ ᕒ ፤ ᕒᕮ D'ᕒᕮ ¯ᕗδ ᛁᐱᑯ +Ɨᑯ+)।

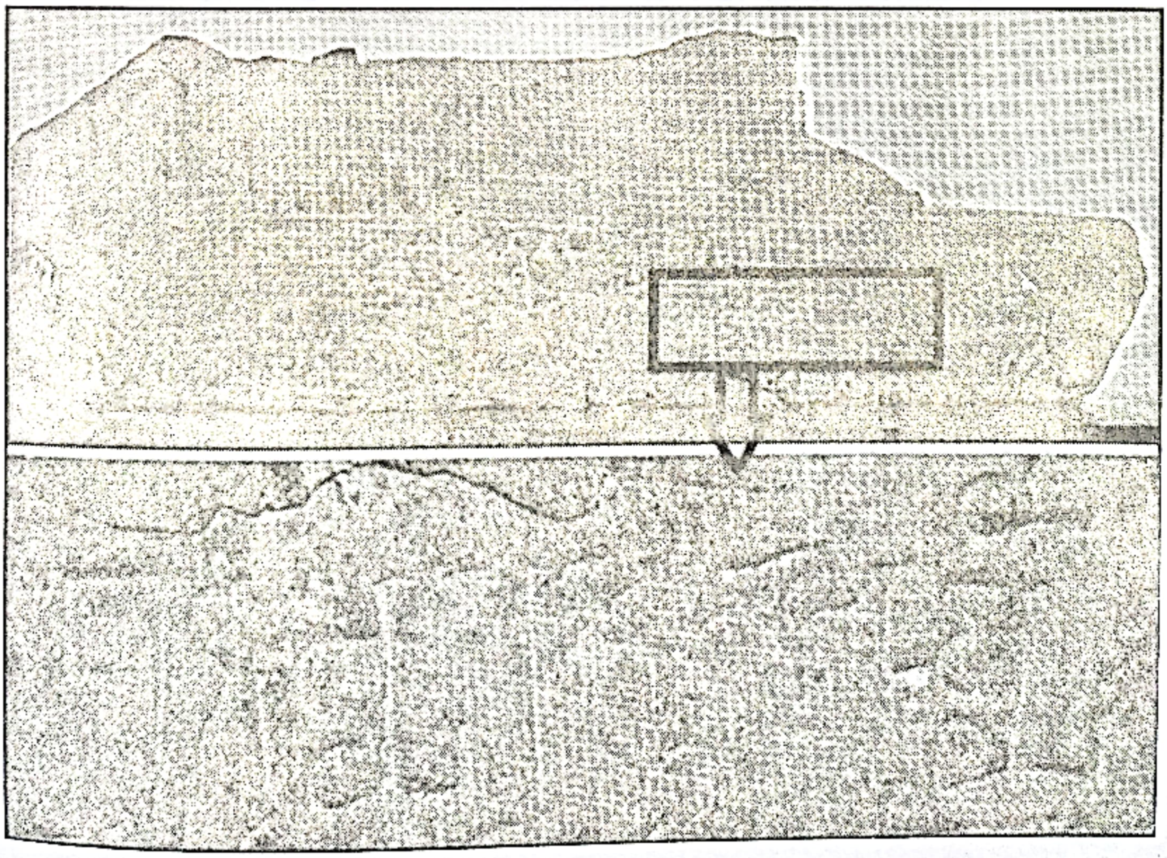
सम्राट कनिष्क के कार्यकाल में ही बौद्धों की चौथी संगीति कुण्डलवन (कश्मीर) में हुई। आज के कई लोग कहते हैं कि इस चौथी संगीति के बाद से सम्यक संस्कृति का ह्रास होने लगा था, लेकिन वे उस ह्रास का कोई साक्ष्य नहीं देते हैं। वस्तुतः ऐसा कुछ दिखता भी नहीं है। परन्तु साक्ष्य जो कहता है, वह यह कि उस समय के बाद से सम्यक संस्कृति का विकास देश में चहुं ओर फैलते हुए देश के बाहर यानी विदेश में भी खूब फैला था। उत्खनन से मिले अभिलेखों के आधार पर सम्राट कनिष्क से पूर्व सम्राट अशोक और सम्राट कनिष्क के बाद सम्राट समुद्रगुप्त ने भगवान बुद्ध के सम्यक मार्ग को फैलाने के लिए भिक्खु संघ को राजकीय स्तर पर काफी मदद पहुंचाई थी जिस वजह से ये दोनों सम्राट अपने-अपने समय में अरहत भिक्खु (देव) के प्रिय पात्र बन गए थे, जिसका परिणामस्वरूप दोनों सम्राट को देवानं (देवानङ्ग) की उपाधि मिल गयी थी। उसी



सम्राट कनिष्क बोधिसत्व की मूर्ति

प्रकार सम्राट कनिष्क द्वारा आहूत चौथी बौद्ध संगीति के बाद भगवान बुद्ध के ज्ञान मार्ग (सम्यक मार्ग) को चहुंओर फैलाने वाले विभिन्न लोगों को बोधिसत्त्व, अवलोकितेश्वर, अमिताभ बुद्ध, मैत्रेय बुद्ध, मंजुश्री बुद्ध, तारा बुद्ध जैसी उपाधि नाम मिलने लगे थे। इस बोधिसत्त्व वाली उपाधि नाम को पाने वाले प्रथम व्यक्ति स्वयं सम्राट कनिष्क ही हैं। बोधिसत्त्व की उपाधि से सम्राट कनिष्क बहुत ज्यादा प्रसिद्ध हो गये थे। सम्राट कनिष्क के परिनिर्वाण के बाद आर्य महासांघिक संघ वाले भिक्खु संघ ने सम्राट कनिष्क की मूर्ति का निर्माण किया था, इस मूर्ति की बेस पर धम्म लिपि द्वारा **महाराजस्य कनिस्कस्य ....बोधिसेनस्य ...धमिन दिस्य** (४ʊꭍ६ᕊ +I'ᕊ+ᕊ . . ¯□D' ¯ᕊ1ᕊ . D४'1 ऽᕊ) लिखवाया था, इस मूर्ति को चित्र में देखा जा सकता है। यह मूर्ति मथुरा नगर के पास से खुदाई में मिली है, जिसे आज मथुरा संग्रहालय में रखा गया है। इस बोधिसत्त्व की मूर्ति और उस पर की गयी धम्म लिपि वाली लिखावट को मथुरा संग्रालय में भी जाकर देख सकते हैं।

महासांघिक आर्य संघ में सम्राट कनिष्क को बोधिसत्त्व की उपाधि मिलने के बाद तो समझिए कि उसके बाद कुषाण काल, गुप्त काल, वर्द्धन काल



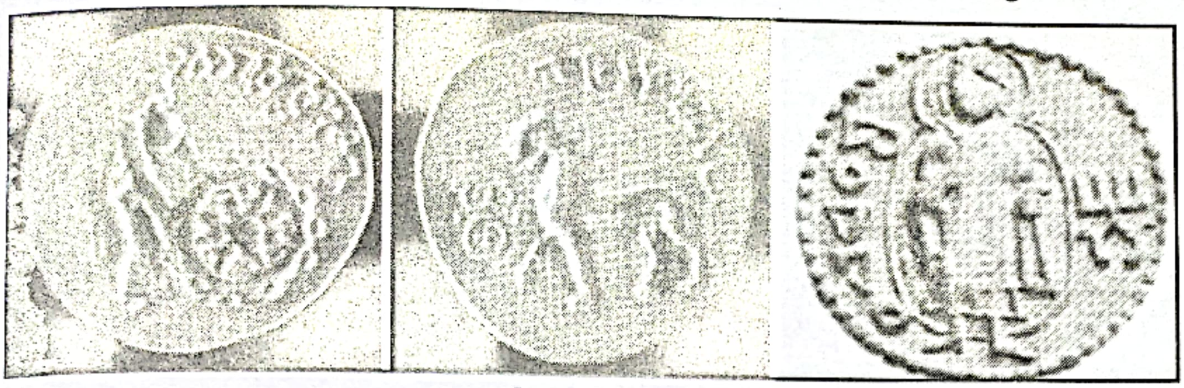
और पाल काल तक में बोधिसत्त्व, अवलोकितेश्वर, अमिताभ बुद्ध, मैत्रेय बुद्ध, मंजुश्री बुद्ध, तारा बुद्ध जैसी उपाधि को प्राप्त करने वालों की लाईन

ही लग गयी थी। मथुरा संग्रहालय में कुषाण काल की ऐसी ही उपाधि प्राप्त एक टूटी मूर्ति रखी है जिस पर बाम्ही लिपि में **बुद्धस्य अमितभस्य** (𑀩𑀼𑀥𑀲𑁆𑀬 𑀅𑀫𑀺𑀢𑀪𑀲𑁆𑀬) लिखा हुआ है। जिसको चित्र में देख सकते हैं।

कुषाण काल से पूर्व भगवान गौतम बुद्ध की पहचान हेतु सिर्फ सिरीपाद, चैत्य और स्तूप का ही निर्माण होता था। लेकिन कुषाण काल में चौथी संगीति के बाद से जो आर्य महासांघिक भिक्खु संघ बना था, उन सभी के द्वारा भगवान गौतम बुद्ध के सिरीपाद, चैत्य, स्तूप के अलावा मूर्ति स्वरूप में भी लोग स्थापित करने लगे थे। कुषाण काल का ही समय है जिसमें भगवान गौतम बुद्ध की असंख्य मूर्तियां पहाड़ों में, गुफाओं में, कन्दराओं में, बुद्ध विहारों में, संघाराम में, चैत्य में स्थापित होने लगी थीं। आज बामियान (अफगानिस्तान) हो या तिब्बत, पेशावर हो या लंका, जापान हो बलूचिस्तान, जहां भी भगवान बुद्ध की मूर्तियां प्राप्त होती हैं, वह सब सम्राट कनिष्क द्वारा गंधार कला से मूर्ति बनने के बाद की देन हैं। इसका बेहतरीन साक्ष्य कुषाण की दोनों राजधानी पेशावर और मथुरा के संग्रहालय में उत्खनन से मिली अनेक मूर्ति और धम्म लिपि में लिखे अभिलेख संगृहित हैं जिसे आज देखा जा सकता है। साथ ही कुषाण काल के बाद से अवलोकितेश्वर बुद्ध, तारा बुद्ध, मैत्रेय बुद्ध जैसी मूर्तियां भी बहुतायत में देखने को मिलने लगी थीं।



मथुरा और पेशावर संग्रहालय



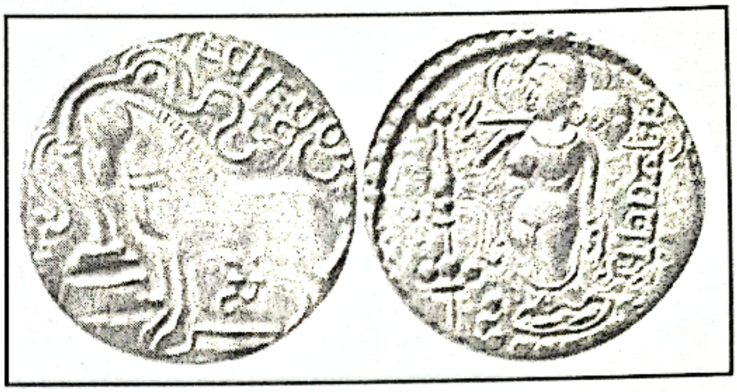
मथुरा और पेशावर संग्रहालय

सम्राट कनिष्क के समय लोगों का भगवान गौतम बुद्ध के प्रति झुकाव हो, लगाव हो, उस नाते इस प्रकार का आर्य महासांघिक संघ का प्रचार-प्रसार के साधन का कार्य देख रहे हैं, लेकिन इसके अलावा भगवान गौतम बुद्ध के प्रति स्वयं के समर्पण को भी देख सकते हैं कि उन्होंने अपनी प्रत्येक पहचान को भगवान बुद्ध के साथ जोड़ कर दिखाना शुरू कर दिए थे। उसी कड़ी में सम्राट ने अपनी मुद्रा पर क्रमशः **धम्म चक्र, त्रिरत्न, रोमन लिपि में बोद्दो** (BODDO) लिखवाये थे।

सम्राट कुषाण के आर्य महासांघिक संघ की चौथी संगीति के बाद गुप्त काल का समय आता है। जिस गुप्त काल को स्वर्ण काल का युग भी कहा जाता है। ऐसे इस स्वर्ण काल पर पक्ष-विपक्ष द्वारा सहमति और असहमति जैसी अपनी-अपनी काफी व्याख्याएं हैं, लेकिन धर्म और अध्यात्म (धम्म D'४ व अज्झत्त ४ ६ʌ) से संबंधित सबसे प्रसिद्ध साक्ष्य इस काल में स्थापित अनेक विश्व विख्यात शिक्षण संस्थान का पुरातात्विक साक्ष्यों से प्राप्त होता है। इसी स्वर्ण काल में भगवान बुद्ध और भगवान महावीर के देसना (शिक्षा) हेतु विद्यालयों के संचालन की शुरुआत हुई, साथ ही पूर्व के बुद्ध विहार को भी विद्यालय का स्वरूप देकर संचालित किया गया था, जिसमें नालन्दा विश्वविद्यालय, तेल्हाड़ा विश्वविद्यालय जैसे कई नाम आज देश-विदेश में प्रसिद्ध हैं। उस समय देश-विदेश के काफी लोग उस विद्या केन्द्र में विद्या अध्ययन करने आते थे। जिनमें से दो विश्व विख्यात विद्यार्थी इत्सिंग और फाहियान काफी प्रसिद्ध हैं। ऐसे गुप्त काल के बाद में ह्वेनसांग का भी आना काफी प्रसिद्ध है। इस गुप्त काल पर लोगों के कई मत हैं। आज बहुत से लोग हैं जो गुप्त को भ्रमवंशियों का सहयोगी बताते नहीं थकते हैं। भाई! यहां बोलने की आजादी है इस वजह से जो मर्जी आप बोल सकते हो। लेकिन किसी के द्वारा मात्र कुछ बोल देने से

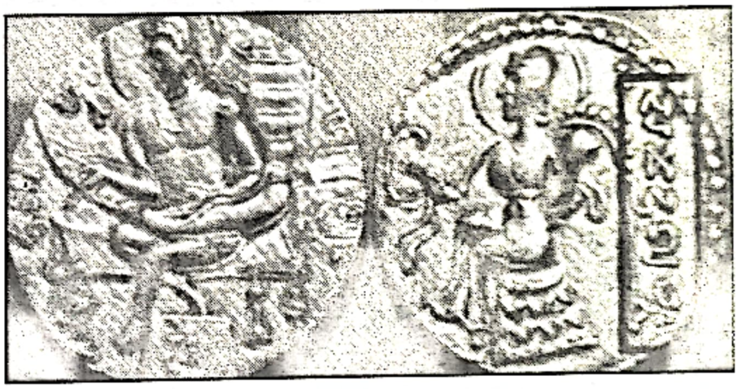
या बिना पुरातात्विक साक्ष्य के कुछ लिख देने से, वह बोली और लिखी गई बातें पुरातात्विक साक्ष्य नहीं बन जाती हैं। यह बात तो समझते ही होंगे। जब गुप्त शासक के पास लिखने या लिखवाने की कला मौजूद थी, फिर तो गुप्त शासक द्वारा सम्यक संस्कृति के विपरीत भ्रमवंशीयों का बखान जरूर लिखा जाना चाहिए था! अगर गुप्त काल में वैसा कुछ भी लिखा जाता तो आज गुप्त काल में उत्खनन से प्राप्त लिखित साक्ष्य में वैसे भ्रमिक अभिलेख जरूर मिलने चाहिए थे और आप जैसे विद्वजनों को भी वैसे प्राप्त साक्ष्य को जरूर दिखाना चाहिए था! लेकिन लिखित रूप से पुरातात्विक साक्ष्य को दिखाने के नाम पर आप सभी लोग चुप हो जाते हो और उस चुप्पी के बाद किसी अज्ञात लेखक के द्वारा लिखी गयी आज की पुस्तक को दिखाने लगते हैं। क्या इसे ही पुरातात्विक प्रमाण मानना चाहिए? आज भ्रमवंशी लेखक लोग भी इसी गुप्त काल के संस्कृत नाटक के प्रसिद्ध लेखक कालीदास को स्थापित करते हैं। लेकिन प्रश्न यहां भी उठता है कि गुप्त काल का लिखा हुआ जितना भी अभिलेख मिला है, वह सब धम्म लिपि की वर्णमाला में और शिला व धातु अभिलेख पर लिखा मिला है। फिर तो कालीदास के लेख पर भी दो प्रश्न खड़े होते हैं। पहला प्रश्न—क्या कालीदास द्वारा लिखित संस्कृत नाटक का लेख धम्म लिपि द्वारा संस्कृत भाषा में लिखा गया था? दूसरा प्रश्न—क्या गुप्तकाल में कालीदास को लिखने के लिए विशेष तौर पर कागज का उद्‌भव करा दिया गया था या कहीं से कालीदास को नाटक लिखने हेतु कागज का आयात करवाया गया था? भ्रमवंशियों के साथ-साथ उनके अनुयायियों को यह भी नहीं पता है कि कागज के उपयोग का प्रमाण पालवंश के बाद से मिलना शुरू होता है। फिर पालवंश से पूर्व भ्रमवंशियों द्वारा लिखित कागज की पुस्तक को कैसे प्रत्यारोपित (Implant) कर दिया जाता है?

दूसरी बात सही में अगर धम्म लिपि में संस्कृत भाषा लिखी जा सकती है तो गुप्तकाल में गुमनाम कालीदास द्वारा लिखित मालविकाग्निमित्रम्, अभिज्ञानशाकुंतलम्, रघुवंशम् जैसी पुस्तकों के मूल स्त्रोत (अभिलेख) को प्रदर्शित करना चाहिए। ऐसे ही मुंह द्वारा कितनी गप्प हांकी जाएगी! सबसे बड़ा कारण है कि गुप्त काल के लिखे हुए काफी अभिलेख आज प्राप्त हैं, जिनको राष्ट्रीय ग्रंथागार में देखा जा सकता है।

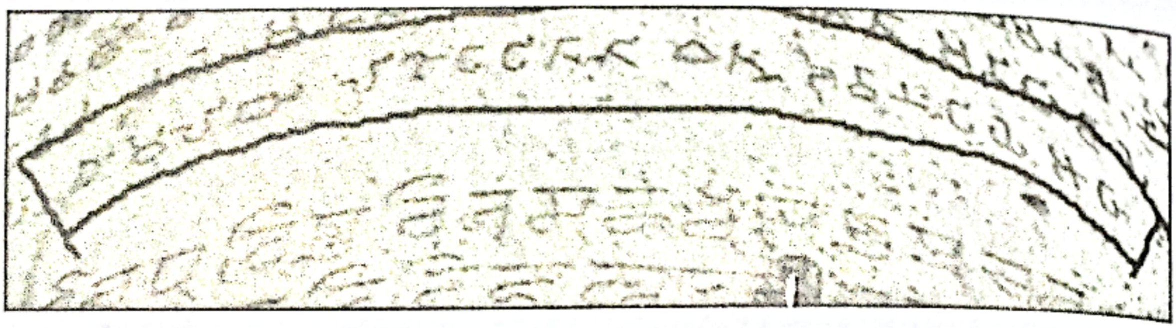


रानी की मुद्रा

गुप्त काल की काफी मुद्रा मिली हैं, जिनमें से कुछ मुद्रा को यहां रख रहा हूं। बगल में एक मुद्रा है जिस मुद्रा पर एक ओर घोड़ा का चित्र बना है। उस चित्र को देखकर आज के भ्रमिक विद्वान लेखक उसे अश्वमेध यज्ञ का घोड़ा से संबोधित करते हुए फूले नहीं समाते हैं, लेकिन इस मुद्रा पर जिधर घोड़ा का चित्र बना है, उस ओर घोड़ा के नीचे धम्म लिपि की एक वर्णमाला का 'सो' (¯ↄ) अंकित है, तो वहीं इसी मुद्रा के दूसरी ओर रानी का चित्र बना है उस ओर धम्म लिपि में **'कान ञधगोहन'** (+⊥hD¯ʌ b⊥) अंकित है।



गुप्त काल की एक और मुद्रा को आप लोगों के बीच रख रहा हूं, जिस पर भी धम्म लिपि द्वारा **समदगुपत** (ↄ४ ʌbʌ) लिखा है। गुप्त कालीन जितने भी सिक्के हैं सभी पर धम्म लिपि का उपयोग है। उसी प्रकार से गुप्त काल का प्रयाग प्रशस्ति अभिलेख प्रसिद्ध है। प्रयाग स्तंभ के सबसे ऊपरी भाग में सम्राट अशोक द्वारा धम्म लिपि में अंकित लेख है, तो उसके नीचे समुद्रगुप्त द्वारा जो लेख अंकित है वह भी धम्म लिपि में ही है। आप लोगों को मालूम है ही कि धम्म लिपि में हलन्त, विसर्ग के साथ-साथ क्ष, त्र, ज्ञ जैसी वर्णमाला नहीं होती है। फिर गुप्त सम्राट द्वारा संस्कृत लिखने की बात कहां से लोग उत्पन्न कर देते हैं। प्रयाग प्रशस्ति स्तंभ लेख के सबसे नीचे की पंक्ति में गुप्त शासक ने साफ-साफ **'इयं धम्म लिबि लिखापा पिताति एत देवानङ्ग पिये आहा'** (∴⊥ D·४ ᒧ ◻ ᒧ٩ᒪ ᒪ ʎʎ Δʎ ¯ↄδ⊥ ᒪ ¯⊥ ꓘᒪ) लिखा है। सबसे नीचे नागरी लिपि में जहांगीर का लेख अंकित है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि नागरी लिपि और संस्कृत भाषा का उद्भव मुगल काल में हुआ है। अगर ऐसा नहीं होता तो कालीदास का लिखा हुआ संस्कृत का अभिलेख गुप्त काल में जरूर मिलता?



मानव के क्रमिक विकास की ही तरह मानव की सभ्यता, संस्कृति और उसकी भाषा-लिपि का भी क्रमिक विकास होता है, जिस वजह से सम्यक संस्कृति में विकसित धम्म लिपि का भी विकास हो रहा था। सम्यक संस्कृति कार्यकाल (लगभग 1500 वर्ष) में तीन ऐसे महान सम्राट का कार्य दिखता है, जो अपने आप में एक अद्वितीय मिशाल के रूप में इतिहास में अंकित हैं।

इस अद्वितीय कार्य करने वालों में पहला नाम महान सम्राट अशोक का आता है, जिन्होंने अपने कार्यकाल में सम्यक संस्कृति के ज्ञान वाले मार्ग से ज्यादा-से-ज्यादा लोगों को लाभान्वित करने के उद्देश्य से प्रत्येक जगह धम्म उपदेश सहित सैकड़ों अभिलेख, चैत्य, स्तूप, संघाराम स्थापित करने के साथ-साथ अपने बच्चों को धम्म के प्रचार-प्रसार में लगा दिए।

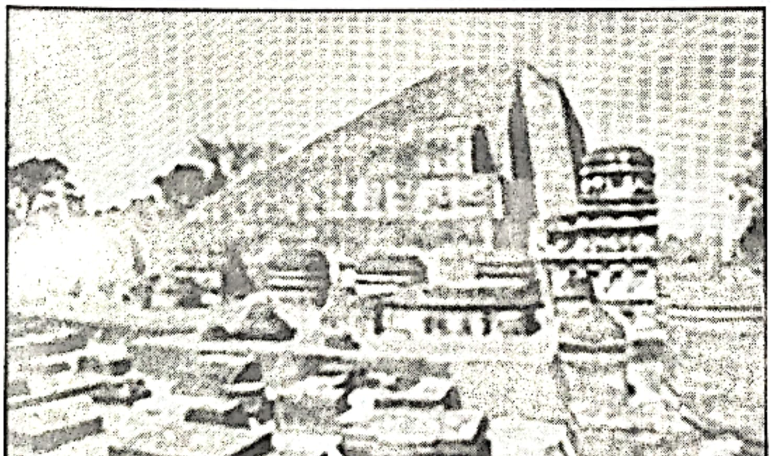
सम्यक संस्कृति के विस्तारीकरण में दूसरा नाम कुषाण वंश के महान सम्राट कनिष्क का आता है, जिन्होंने अपने कार्यकाल में सम्यक संस्कृति के विस्तारीकरण हेतु प्रत्येक मुद्राओं में भगवान बुद्ध की छवि (मूर्ति) का निर्माण करते हुए देश-विदेश के हर कोने में स्थापित किए। ताकि ज्यादा-से-ज्यादा लोग भगवान बुद्ध के मार्ग से जुड़कर लाभ ले सकें। भगवान बुद्ध की मूर्ति का मिलना सम्राट कनिष्क से पूर्व नहीं है।

सम्यक संस्कृति के विकाश क्रम में तीसरा नाम गुप्त शासकों का आता है। गुप्त काल में खासकर समुद्रगुप्त के समय सम्यक संस्कृति का सबसे ज्यादा विकास हुआ था। पूर्व काल में जितने भी चैत्य और भगवान बुद्ध की मूर्तियों की स्थापना हुई थी, उन सभी स्थलों पर बुद्ध विहार (मंदिर) का निर्माण गुप्त काल में ही हुआ था। सम्यक संस्कृति में गुप्त काल से पूर्व का एक भी मंदिर नहीं मिला है। यहां तक कि भगवान बुद्ध की ज्ञान प्राप्ति स्थल 'महाबोधि' स्थल का मंदिर भी गुप्त काल में निर्मित है। महाबोधि स्थल पर सम्राट अशोक के समय का चैत्य और बोधि-वृक्ष के नीचे सम्बोधि स्थल का निर्माण है, तो कुषाण काल के समय सम्बोधि स्थल

के सामने भगवान बुद्ध की मूर्ति स्थापना का कार्य है। लेकिन इस मूर्ति के ऊपर मंदिर निर्माण का समय गुप्त काल का है। किसी भी बौद्ध स्थलों पर बुद्ध मंदिर बनावट का निर्माण काल गुप्त काल के पहले का नहीं मिलता है। (स्त्रोत :-पुरातत्व विभाग)

गुप्त काल को स्वर्ण काल कहा जाता है, ऐसे क्यों?

गुप्त काल में भगवान बुद्ध की देसना (उपदेस/शिक्षा) को फैलाने हेतु सबसे ज्यादा विकास पूर्व के सभी बुद्ध विहारों को सुव्यवस्थित ढंग से करते हुए विद्यालय का रूप दिया गया था। साथ ही कुछ नए विद्यालयों की स्थापना भी की गयी थी। जिस वजह से गुप्तकाल को स्वर्ण युग कहा जाता है। यह सिर्फ कहने सुनने की बात नहीं है, बल्कि पुरातात्विक रूप से प्रमाणित बात भी है कि गुप्त काल में नालन्दा विश्वविद्यालय जैसे अनेक शिक्षण संस्थानों को वृहद् पैमाने पर सामान्य विद्यार्थियों के पठन-पाठन हेतु संचालित करवाया गया था। वैसे तो ये सब स्थान भगवान बुद्ध की देसना (उपदेस) हेतु पूर्व से ही स्थापित थे, लेकिन इसका स्वरूप बुद्ध विहार और संघाराम के रूप में छोटे स्तर पर था, जहां सिर्फ बौद्ध संघ के भिक्खु और भिक्खुनी को

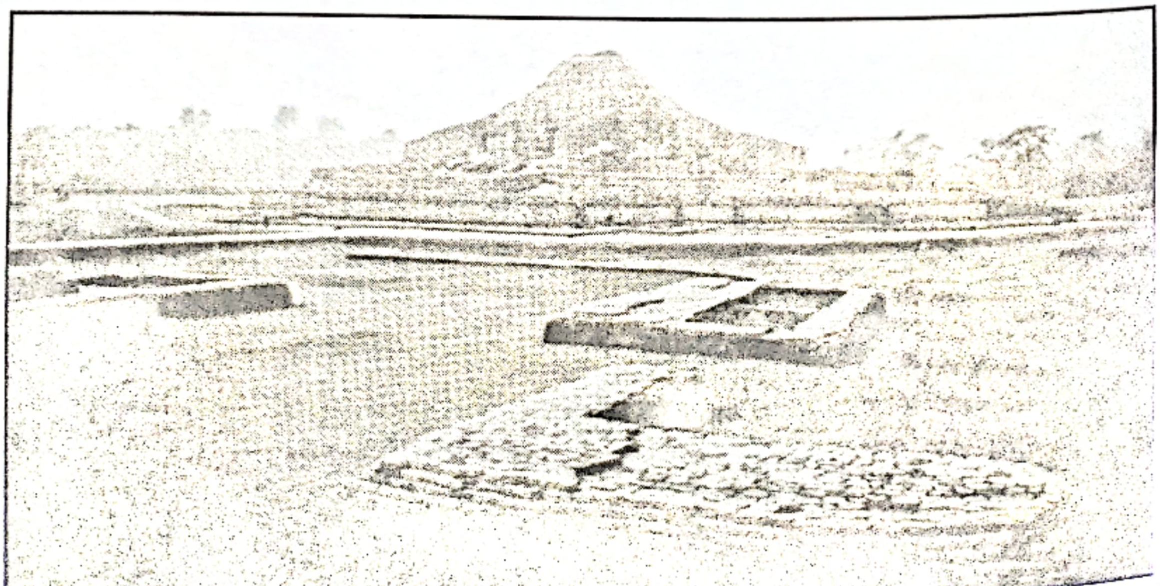


ही देसना दी जाती थी। अगर ऐसा नहीं होता तो गुप्तकाल से पूर्व भी भगवान बुद्ध द्वारा बताई गयी शिक्षा को बताने वाले आचार्य और उस शिक्षा को प्राप्त करने वाले सामान्य विद्यार्थी जरूर मिलते। लेकिन दुर्भाग्य वश गुप्तकाल से पूर्व का एक भी आचार्य और एक भी सामान्य विद्यार्थी नहीं मिला है और न ही ऐसे सामान्य विद्यार्थी का कोई नाम बताने वाला उपलब्ध है। फिर भी गुप्तकाल के इस स्वर्ण युग पर कुछ लोगों को यदि आपत्ति है, तो वैसे लोगों से कहना है कि जब तक आप लोग गुप्त काल में भगवान बुद्ध की शिक्षा से अलग या भगवान बुद्ध की शिक्षा का फैलाव गुप्त काल से पूर्व,

किसी अन्य सम्राट के समय पुरातात्विक रूप से शिक्षण संस्थानों का होना निश्चित नहीं करते हैं तब तक गुप्त काल से भगवान बुद्ध की देसना वाली स्वर्ण युग की उपाधि भी जाने वाली नहीं है।

सच यह है कि गुप्त काल के समय से इन छोटे-छोटे बुद्ध विहारों को सुव्यवस्थित ढंग से विश्वविद्यालय का स्वरूप देते हुए भगवान गौतम बुद्ध के द्वारा बताए गए ध्यान (झान/𑀜𑀸𑀦), धर्म (धम्म/𑀥𑀫𑁆𑀫) और अध्यात्म (अज्झत्त/𑀅𑀚𑁆𑀛𑀢𑁆𑀢) की शिक्षा बड़े पैमाने पर दी जाती थी। जिस वजह से गुप्त काल में भगवान बुद्ध की देसना (शिक्षा) समुचे विश्व में विख्यात हो गई थी। ऐसे तो भगवान बुद्ध के आष्टांगिक मार्ग (आठ अंगों का धर्म) का प्रसार सम्राट अशोक के समय तथा भगवान बुद्ध के मार्ग के प्रति समर्पण हेतु मूर्ति का निर्माण सम्राट कनिष्क के समय काफी हुआ था जिसका पुरातात्विक प्रमाण भी काफी मिला है, लेकिन भगवान बुद्ध द्वारा प्रतिपादित ज्ञान का हर गृहस्थों हेतु सबसे ज्यादा प्रचार-प्रसार गुप्त काल में ही हुआ था जिस वजह से गुप्त काल को स्वर्ण युग कहा जाता है।

भगवान बुद्ध की देसना हेतु अनेक विश्व विख्यात शिक्षण संस्थानों का संचालन पाल वंश के समय तक सुचारू ढंग से चला था, यह जानकारी तो सर्वविदित है। लेकिन पाल वंश के बाद जब सेन वंश जैसों की राज सत्ता आती है तो ऐसे भगवान बुद्ध की देसना से जुड़े हुए तमाम विश्वविद्यालय का खात्मा एक साजिश के तहत धीरे-धीरे होने लगा था। इस खात्मे के पीछे जिस किसी विदेशी आक्रांता का नाम आज लिया जाता है, उन तमाम क्षेत्रों पर सुरक्षा की जिम्मदारी उस समय के शासक



की बनती थी। अब यह गौर करने वाली बात है कि उन क्षेत्रों पर राज सत्ता किसकी थी? जहां राज सत्ता की बात आती है तो फिर दावे के साथ कह सकता हूं कि उस समय इन क्षेत्रों पर राज सत्ता सेन वंश की थी। जिस वजह से उस घटना की सारी जिम्मेदारी सेन वंश जैसे अन्य शासकों के ऊपर ही तय होनी चाहिए।

अब आज के भ्रमवंशी कलम कसाई लेखक अगर उस घटना से सेन वंश को बचाने हेतु, सेन वंश का नाम गायब कर दें तो क्या सेन वंश की जिम्मेदारी खत्म हो जाएगी? आखिर किसी राजा के क्षेत्र में कोई विदेशी आक्रांता घुसकर राज का राजकीय खजाना, उस राज्य की जनता का महत्त्वपूर्ण उपास्य स्थल, उस राज्य में अवस्थित शिक्षण संस्थान, उस राज्य की मूल धरोहर को नुकसान पहुंचाता है, या नुकसान पहुंचाने का प्रयास करता है तो उस राजा का राज-धर्म होता है कि वह अपने राज्य खजाने को बचाने हेतु व महत्त्वपूर्ण उपास्य स्थल को बचाने हेतु, महत्त्वपूर्ण शिक्षण संस्थान को बचाने हेतु, या कहें तो अपने राज्य की हर मूल धरोहर को बचाने हेतु दुश्मन से डटकर मुकाबला करना चाहिए, लेकिन सेन वंश के राजा ने जनता के बचाव हेतु कोई सुरक्षात्मक कार्रवाई नहीं की। यहां तक कि सुरक्षा की कार्रवाई का कोई दिखावा भी नहीं किया था। अगर इस प्रकार की घटना में कोई राजा किसी प्रकार की सुरक्षात्मक कार्रवाई नहीं करता है तो समझो की इस घटना में उस राजा की भी इस साज़िश में कहीं न कहीं संलिप्तता जरूर है। भगवान बुद्ध की देसना से जुड़े हुए जितने भी शिक्षण स्थलों पर विदेशी आक्रांता का आक्रमण हुआ है उन स्थलों पर सेन वंश जैसे किसी भी शासक द्वारा सुरक्षात्मक बचाव वाली घटना का कोई प्रमाण नहीं मिलता है।

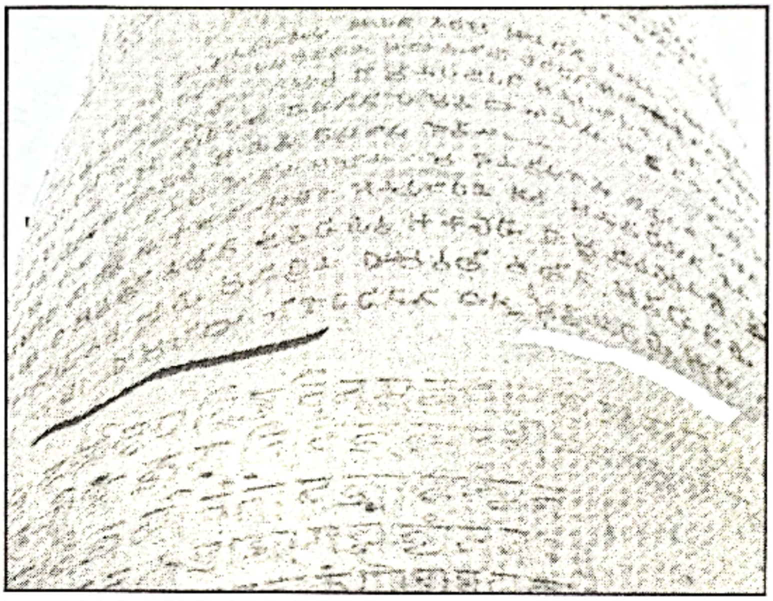
पाल वंश की राज सत्ता हो या पाल वंश से पूर्व काल (वर्द्धन वंश, हूण वंश, गुप्त वंश, कुषाण वंश) की राज वंश की सत्ता हो, उन सभी के कार्यकाल में भगवान बुद्ध की देसना हेतु स्थापित अनेक सम्यक विश्वविद्यालयों को सुचारू ढ़ग से चलने हेतु राजकीय संरक्षण के साथ-साथ राज खजाने से आर्थिक मदद सभी सम्राटों से मिलती रही थी। अगर उन शिक्षण संस्थानों को राजकीय संरक्षण और आर्थिक मदद नहीं मिलती तो वे सभी शिक्षण संस्थान स्वतः ही आर्थिक रूप से कमजोर होते हुए काल

के गाल में समाकर बंद हो जाते। लेकिन ऐसा एक भी प्रमाण नहीं मिला है। फिर भी कुछ लोगों को खुश करने हेतु अगर यह मान लें कि कुछ राज वंशों ने राजकीय संरक्षण के अलावा आर्थिक रूप से मदद नहीं की थी तो उन सबों द्वारा इसका विरोध भी तो नहीं किया गया था। अगर विरोध की बात आती तो निश्चित ही ऐसे शिक्षण संस्थानों को पाल वंश से पूर्व हूण और गुप्त वंश के समय ही नष्ट कर दिया जाता या भगवान बुद्ध की देसना की जगह गपोड़ ज्ञान पर आधारित कथा वाचन चालू हो जाता, जैसे आज उच्चतम शिक्षण संस्थानों में पालि भाषा और पूर्व की पुरातात्विक शोध को बंद करते हुए सतयुग और द्वापर युग की शिक्षा दी जाती है। इसलिए भगवान बुद्ध से जुड़े हुए ऐसे देसना देने वाले सभी विश्वविद्यालयों का निरन्तर चलना ही इस बात का द्योतक है कि भगवान बुद्ध की देसना के विपरीत कोई भी राज वंश किसी अन्य देसना के पक्ष में नहीं था। अगर ऐसा कुछ रहता भी तो, इन सभी शिक्षण संस्थानों के आचार्य नागार्जुन, शीलभद्र, धम्मपाल, चंदपाल, गुणमति जैसों के साथ-साथ इत्सिंग, फाहियान और ह्वेनसांग जैसे कई प्रसिद्ध लोग कुछ-न-कुछ लिखकर कहीं साक्ष्य को जरूर छोड़ते। लेकिन दुर्भाग्यवश आज तक ऐसा कोई भी साक्ष्य किसी को नहीं मिला है।

ठीक इसके विपरीत इत्सिंग और फाहियान ने अपने यात्रा वृतांत में गुप्त काल के समय सम्यक संस्कृति के अलावा किसी अन्य संस्कृति को देखने की बात भी नहीं लिखी है, फिर भी आज कुछ लोग हैं जो गुप्त काल के समय सम्यक संस्कृति क़े विपरीत अपनी कल्पना द्वारा निर्मित संस्कृति को स्थापित करने पर तुले रहते हैं। निश्चित ही ऐसे लोगों को आज भ्रमवंशियों का सहयोगी कहा जा सकता है या ऐसे लोगों को भ्रमवंशियों द्वारा मानसिक तौर पर अपहृत किया हुआ कहा जा सकता है।

गुप्त काल के समय प्रयाग प्रशस्ति, अशोक स्तंभ पर सम्राट अशोक के अभिलेख के नीचे समुद्रगुप्त ने अपना ऐक लेख लिखवाया था। आज उस अभिलेख को देखने की आवश्यकता है।

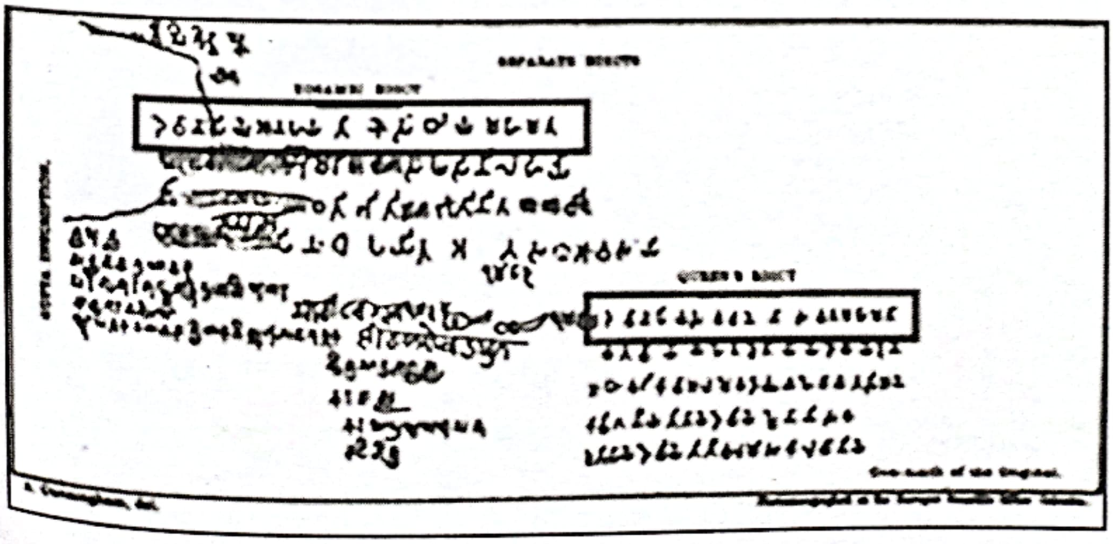
यह अभिलेख सम्राट अशोक द्वारा लिखित स्तंभ लेख के नीचे सम्रद्रगुप्त द्वारा धम्म लिपि और पालि भाषा में **'देवी कुमालानं इमे दान'** (𑀤𑁂𑀯𑀻 𑀓𑀼𑀫𑀸𑀮𑀸𑀦𑀁 𑀇𑀫𑁂



प्रयाग प्रशस्ति अभिलेख

ƽɿ) लिखा है। आगे इसी अभिलेख की सबसे निचली पंक्ति में लिखा है कि **'इयं धम्म लिबि लिखा'** (∴ɿ꒒ᒪ D'४ J'◻' J'ꟼ) और लिखने वाला का नाम **'देवानाम पिये आहा'** (⁻ ƽδɿ꒒ᒪ ᑦ ⁻ɿ ϰᒪ) लिखा है। गुप्त काल में देवा नाम का प्रतिनिधित्व समुद्रगुप्त करता था। साथ ही इस प्रयाग प्रशस्ति अभिलेख में समुद्रगुप्त द्वारा आजीवक लोगों को पालि में 'बाभनेसु आजिविकेसु' (◻ᖽ ⁻ɿ ᕲ ϰ ᕮ' δ' ⁻+ᕲ) यानी आजीवक समुदाय को विद्वान कहकर संबोधित किया गया है, इस बाभनेसु को स्तंभ में लिखा हुआ आप लोग भी देख व पढ़ सकते हैं।

ऐसे तो गुप्त काल की बहुत सारी मुद्राएं और अभिलेख प्राप्त हैं, लेकिन उन सभी में मुख्य को यहां रख रहा हूं। उसी कड़ी में एक और मुख्य अभिलेख कौसाम्बी और रानी अभिलेख है, जिसे आप लोग भी देखें। इस कौसाम्बी के अभिलेख में धम्म लिपि द्वारा पालि में **देवानड्ग पिये अनापय ति कोसंबिय महामत** (⁻ƽδɿ꒒ᒪ ᑦ ⁻ɿ ϰɿᒪɿ ⅄ ⁻+ᒪ꒒ᑭ◻'ɿ ४Ϭ४⅄) लिखा है, तो वहीं रानी के अभिलेख में **देवानड्ग पियेस वचने ना स वत महामता** (⁻ƽδɿ꒒ᒪ ᑦ ⁻ɿᒪ δd ⁻ɿ ɪ ᒪ δ⅄ ४Ϭ४⅄) लिखा गया है।



इस अभिलेख से तीन बातों की पुष्टि निश्चित हो जाती है कि, सम्राट अशोक ने जिस लिपि को धम्म लिपि के नाम से संबोधित करते हुए बहुत से अभिलेख में लिखा था, उस लिपि को गुप्त काल में भी धम्म लिबि (लिपि) के नाम से ही जाना जाता था। जिसका प्रमाण यहां लिखा हुआ भी है। साथ ही जिस प्रकार सम्राट अशोक धम्मिक देशना देने वाले भिक्खु-संघ का प्रिय बनकर देवानाम प्रिय के नाम से जाने जाते थे, उसी प्रकार गुप्त काल में समुद्रगुप्त भी धम्मिक देशना देने वाले भिक्खु-संघ के बीच देवानाम पिये आहा के नाम से जाने जाते थे, और अंत में जिस प्रकार सम्राट अशोक अभिलेख के माध्यम से विद्वान वर्ग और समण वर्ग लिखे थे उसी प्रकार गुप्त काल में भी विद्वान वर्ग को बाभन कहा जाता था। अभिलेख को देख सकतें हैं।

ऐसे तो आज के भ्रमवंशी लेखकों सहित काफी लोग हैं जो गुप्त काल को सम्यक संस्कृति से अलग स्थापित करने का प्रयास करते रहते हैं या कुछ लोग अपनी लेखनी द्वारा गुप्त काल को भ्रमिक संस्कृति का पोषक कहते रहते हैं। लेकिन आज सभी लोगों को पता है कि गुप्त काल के समय अनेक विश्व विख्यात शिक्षण संस्थान हुआ करते थे। जिन शिक्षण संस्थानों के पोषक गुप्त शासक थे। उन संस्थानों की पुष्टि भारत का पुरातात्विक विभाग भी करता है और उत्खनन में उन सभी का साक्ष्य भी मिला है, जो आज दर्शनीय है। इन्हीं शिक्षण संस्थान का वर्णन गुप्त काल के समय आये हुए यात्री इत्सिंग और फाहियान ने भी अपने यात्रा वृतांत में किया है। गुप्त काल के बाद वर्द्धन काल के समय चीनी यात्री ह्वेनसांग का आना हुआ, उसने भी सम्यक संस्कृति का ही बखान किया है। लेकिन उस यात्रा वृतांत को अनुवाद करने वाले भ्रमिक पुत्रों ने कुछ शब्दों की व्याख्या भ्रमिक उद्देश्य से विकृत कर दी है, जिसका कोई भी पुरातात्विक साक्ष्य नहीं है। (यात्रा वृतांत देखें)



समुद्र गुप्त की मुद्रा

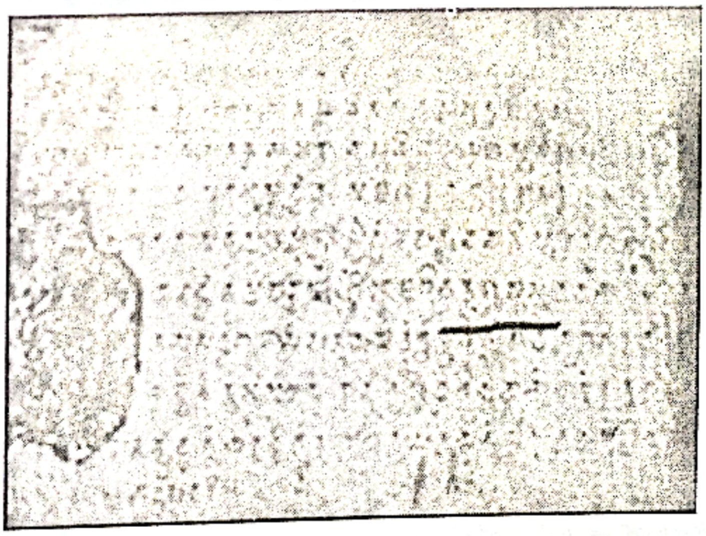
गुप्त काल के समय किसी भी शिक्षा केन्द्रों से पढ़ने वाले देशी-विदेशी छात्रों में कोई एक भी छात्र सम्यक संस्कृति के ज्ञान के विपरीत नहीं मिला है। सबसे मजे की बात यह है कि गुप्त काल में शिक्षा का स्तर उच्चतम शिखर पर होने के बाद भी कहीं से कोई वैदिक ग्रंथ (नागरी लिपि में लिखा हुआ संस्कृत या धम्म लिपि में लिखा हुआ) लिखा हुआ अभी तक नहीं मिला है। इसके उलट समुद्र गुप्त काल की मुद्रा मिली है जिस पर धम्म लिपि में **समदगुपत** (𑀲𑀫𑀤 𑀕𑀼𑀧𑀢) लिखा हुआ है।



चद्रगुप्त की मुद्रा

गुप्त काल की एक मुद्रा और मिली है, उस मुद्रा पर धम्म लिपि में **चंदगुपत** (𑀘𑀁𑀤 𑀕𑀼𑀧𑀢) लिखा है। (इसकी लिखावट का स्वरूप उत्तर गुप्त कालीन धम्म लिपि का है।)

चंद्रगुप्त द्वितीय के शासन काल तक भ्रमवंश को मदद करने वाला एक भी लिखित साक्ष्य नहीं मिला है, परन्तु चंद्रगुप्त द्वितीय द्वारा लिखित एक शिलालेख सांची से मिला है। जिससे स्पष्ट होता है कि गुप्त वंश के सभी सम्राट सम्यक संस्कृति के पोषक ही नहीं वरण सम्यक संस्कृति के अनुगामी भी थे। आप लोग सांची से प्राप्त धम्म लिपि के अभिलेख को देखें, जिस पर नीचे से चौथी पंक्ति के ऊपर और दाहिने में **चंदगुप्त सांची** (𑀘𑀁𑀤 𑀕𑀼𑀧𑀢 𑀲𑀁𑀘𑀺) लिखा है।



चंद्रगुप्त द्वितीय शिलालेख साची

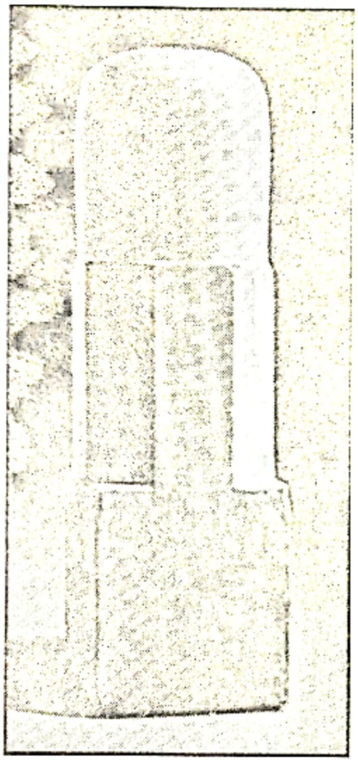
गुप्त काल का समय काफी लंबा रहा है, जिसमें शिक्षा का क्रमिक विकास काफी हुआ था। उसी शिक्षा के क्रमिक विकास की देन है कि गुप्त

काल में धम्म लिपि की लिखावट कुछ घुमावदार हो गयी थी। यह लिपि लेखन की विकास की एक स्वाभाविक प्रक्रिया है, जो आज भी किसी लिपि लेखन के साथ देखने को मिलती है।

गुप्त काल के समय बहुत से शिक्षण संस्थान थे जिनमें पठन-पाठन हेतु शिला अभिलेख, ताम्र अभिलेख मिले हैं, लेकिन कहीं पर भी भ्रमिक मान्यता की कोई लिपि या कहानी का साक्ष्य नहीं मिला है। फिर कुछ लोग मुद्रा पर हाथी घोड़ा का फोटो देखकर गुप्त काल में अश्वमेध यज्ञ क्यों करवा रहे हैं? क्या गुप्त शासक यज्ञ का बखान लिखवा नहीं सकते थे? जो शासक शिक्षण संस्थाओं का पोषक रहा हो, भला ऐसे शासक को लिखने वाले की क्या कमी हो सकती है! गुप्तों के पास तो विद्वान वर्ग नागार्जुन, शीलभद्र, धम्मपाल, चंदपाल, गुणमति जैसे लोगों का खाजाना था। फिर भी भ्रमवंशियों का कोई भी वेद, पुराण, गीता, उपनिषद, रामायण जैसे तमाम ग्रंथो का लेखन नहीं हुआ था। आखिर क्यों?

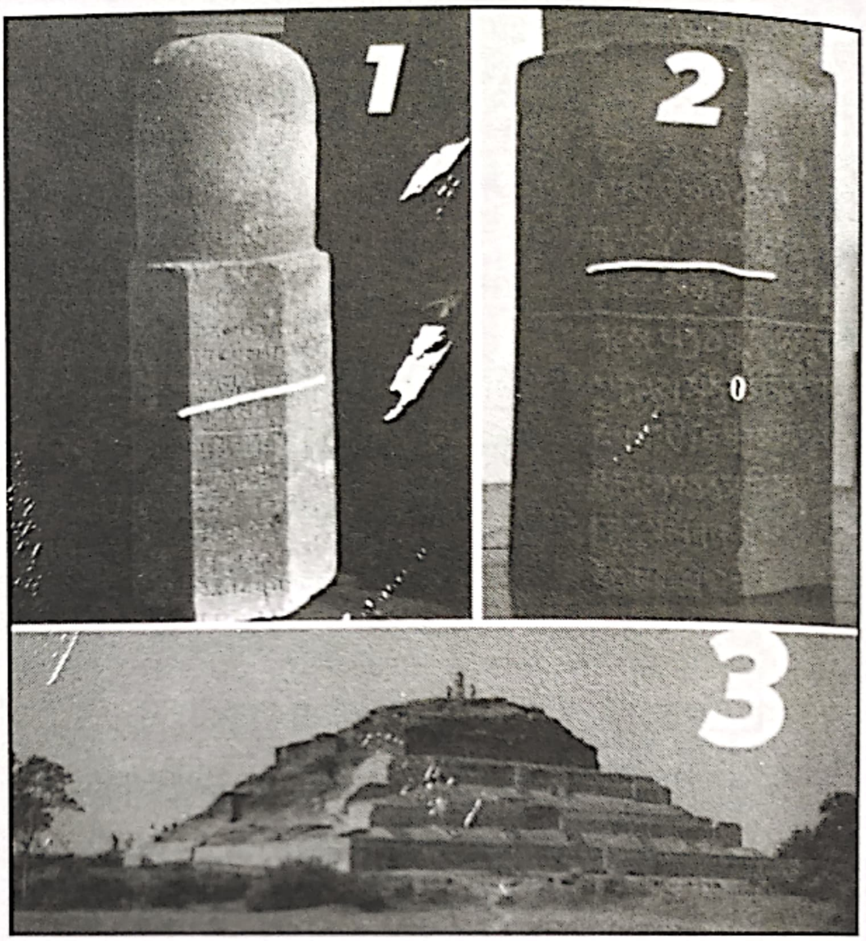
पुरातात्विक रूप से गुप्त काल में भ्रमवंशियों के पूर्वजों का लिखा हुआ आज तक कोई भी ग्रंथ, मंत्र और तंत्र का मिलना नहीं हुआ है फिर भी आज के समय कुछ किताबी ज्ञान वाले लोग गुप्त काल में भ्रमवंशी ग्रंथों का होना मानते हैं। इस बात से तो सभी लोग अवगत होंगे कि अज्ञात व्यक्ति, अज्ञात वस्तु, अज्ञात स्थान, अज्ञात पूर्व की सभ्यता-संस्कृति जैसे विषय की जानकारी के बारे साक्ष्य और प्रमाण से ऊपर कुछ नहीं होता है। इसकी जानकारी तो सभी को है लेकिन किसी व्यक्ति के दिमागी सोच के अन्दर किसी अज्ञात व्यक्ति के बारे में, किसी अज्ञात वस्तु के बारे में, किसी अज्ञात स्थान के बारे में या किसी पूर्व की अज्ञात सभ्यता के बारे में या किसी संस्कृति के बारे में उल्टी-सीधी जानकारी युक्त भावना किताबों द्वारा भर दी जाती है, तो वह भावना उसके लिए कुछ देर बाद पत्थर की लकीर जैसी प्रतीत होने लग जाती है। उस प्रकार के ज्ञान वाली लकीर को सुधारना थोड़ा कठिन हो जाता है। जैसे आज भी अविद्या प्राप्त लोगों का मानना है कि सतयुग, द्वापर और त्रेता जैसा युग हुआ था, ठीक उसी प्रकार आज भी भ्रमवंशियों द्वारा लिखित किताबी ज्ञान से शिक्षित लोगों का मानना है कि गुप्त काल में सम्यक संस्कृति का पतन हुआ था? मानना और जानना, दोनों में बहुत फासला है। क्योंकि गुप्त काल में संचालित किसी भी विश्वविद्यालय से ऐसा लिखित प्रमाण नहीं मिला है। आखिर ऐसा क्यों?

गुप्त काल में प्राप्त पुरातात्विक साक्ष्यों का अवलोकन और विश्लेषण कोई वास्तविक ढंग से नहीं किया है, तो इसके दोषी गुप्त शासक थोड़े हैं! यह तो आज के प्रबुद्ध वर्ग को सोचना चाहिए कि पुस्तकों में लिखित बात पुरातात्विक रूप से प्रमाणित करके बताई गयी है या भ्रमवंशियों ने भांग खाकर अपने पूर्वजों को प्रत्यारोपित (Implant) कर दिया है?

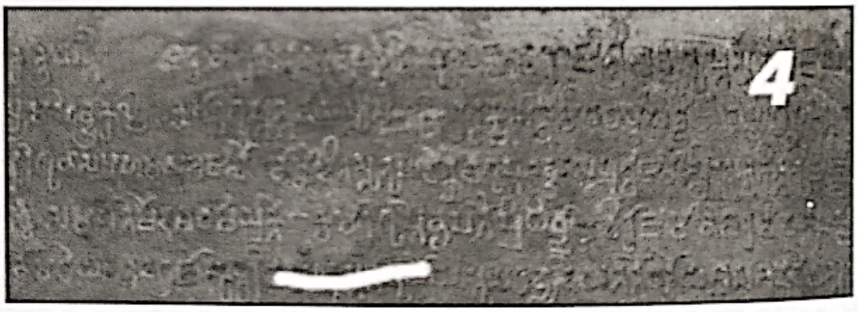


कुषाण काल से प्रचलित भगवान बुद्ध की मूर्ति के बाद गुप्त काल में अवलोकितेश्वर, बोधिसत्त्व, तारा के साथ-साथ मंजुश्री की भी मूर्ति का निर्माण ज्यादा होने लगा था। साथ ही गुप्त काल में अनाड़ी (पालि में अनरियो और संस्कारित भाषा में अनार्य) लोगों को सम्यक मार्ग पर लाने हेतु सांकेतिक बनावट और सांकेतिक शब्दों का प्रचलन काफी चल निकला था। आज उसी सांकेतिक चिह्न और सांकेतिक भाषा का उपयोग करते हुए भ्रमवंशी लोग बहुसंख्यक प्रबुद्ध वर्गों को मूर्ख बना रहे हैं, उस सांकेतिक चिह्न को दिखाकर भ्रमित कर रहे हैं, उनके अन्दर शक्ति का भय दिखाकर भयभीत कर रहे हैं या कहें तो इन सारी बातों द्वारा धूर्त वर्ग अपना जिविकोपार्जन कर रहा है।

उत्खनन द्वारा गुप्त काल में निर्मित एक ऐसा ही सांकेतिक चिह्न मिला है, जिस चिह्न के ऊपर आज काफी भ्रामकता फैली है। यह तो भला कहें उस गुप्त शासक का जिसने इस चिह्न का निर्माण करते समय दो शब्द उस चिह्न पर लिख दिया था। सही में अगर उस चिह्न पर कुछ नहीं लिखा होता तो भ्रमवंशी कलम कसाई और उनके अनुयायी लोग इस चिह्न को लेकर आज चारों ओर उछलते नजर आते। बात गुप्त वंश के शासक कुमार गुप्त की कर रहा हूं। जिसने अष्टकोणीय बनावट के ऊपरी भाग पर गोलाकार (आज के अनुसार लिंगनुमा आकार) आकार की बनावट के काफी स्तंभ लगवाये थे। जो आज उत्खनन में मिले हैं। यह तो आज संयोग कहें कि उन स्तंभों पर ब्राह्मी लिपि (धम्म लिपि) द्वारा **गुप्तस्य विजय़ राजे** (𑀕𑀼𑀧𑁆𑀢𑀲𑁆𑀬 𑀯𑀺𑀚𑀬 𑀭 𑀚𑁂) लिखा हुआ है। अगर ऐसा लिखा हुआ नहीं रहता तो आज के समय में उस



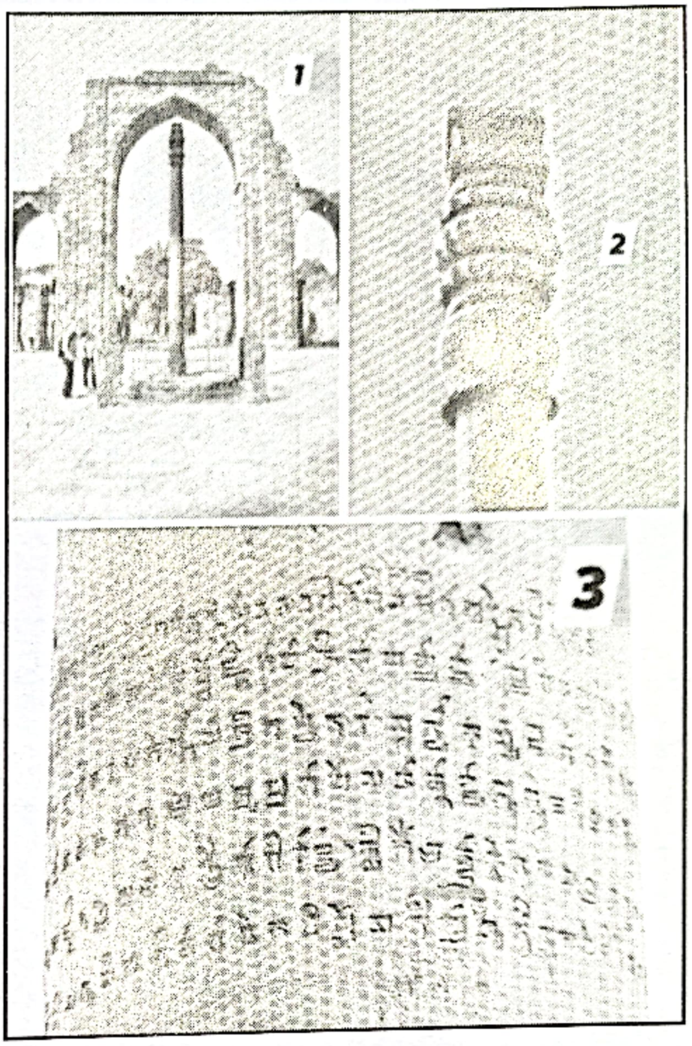
गुप्तस्य विजय राजे



चिह्न व्यवस्था के अनुयायी सहित अन्य लोग भी ऐसी बनावट को देखकर भ्रमित होते। साथ ही कुमार गुप्त द्वारा लिखित एक अभिलेख मध्य प्रदेश के गुना के पास से मिला है जिसको ग्वालियर संग्रालय में रखा गया है। वह अभिलेख भी ब्राह्मी लिपि में लिखा गया है, जिस पर लिखने वाले कुमार गुप्त ने अपना नाम कुमार गुप्त (𑀓𑀼𑀫𑀸𑀭 𑀕𑀼𑀧𑁆𑀢) लिख रखा है।

गुप्त काल में मिले अभिलेख पर की लिखावट और उस अभिलेख की बनावट से तो यह स्पष्ट हो जाता है कि गुप्त काल में लिखावट हेतु ब्राह्मी लिपि की वर्णमाला का प्रयोग और उस वर्णमाला को लिखने हेतु शिला व धातु प्लेट का उपयोग होता था।

अब इस बात की जानकारी तो सभी को हो गयी होगी कि ब्राह्मी लिपि की वर्णमाला में हलंत और विसर्ग का प्रयोग नहीं होता है। अब जब उस लिपि में हलंत विसर्ग का प्रयोग नहीं होता है तो उस लिपि से बने शब्द का अंतिम वर्णमाला की ध्वनि संपूर्णता के साथ उच्चारण की जाती है। जिस वजह से ब्राह्मी लिपि से निर्मित व्यंजन के अंतिम में 'अ' की स्पष्ट ध्वनि

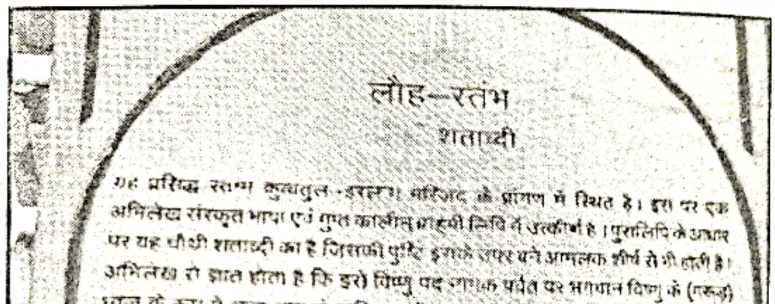


निकलती है। वहीं आज इस बात की भी जानकारी होगी कि संस्कृत भाषा में प्रयुक्त शब्द की अंतिम वर्णमाला का उच्चारण अर्ध-अवस्था में किया जाती है, जिसमें व्यंजन के अंतिम में छिपा हुआ 'अ' समाप्त हो जाता है। इसी अर्ध-अवस्था के उच्चारण हेतु ही हलंत और विसर्ग का उपयोग किया जाता है। जैसे—**ओम मणि पद्मे हुम** को संस्कारित करते हुए संस्कृत भाषा में लेखन हेतु **ओम् मणि पद्मे हुम्** लिखना पड़ता है। **नमो** का संस्कारित भाषा में लेखन **नमोः** के रूप में किया जाता है।

बात गुप्त काल में धातु अभिलेख या धातु का उत्कृष्ट प्रयोग की हो रही थी। जी हां, आज पुरातत्व विभाग को एक वैसी ही उत्कृष्ट लौह धातु स्तंभ का लेख प्राप्त हुआ है जिस लौह स्तंभ की बनावट को सदियों खुले आसमान के नीचे रहने के बाद भी उस पर वर्षा, धूप व मिट्टी का ज़रा-सा भी प्रभाव नहीं पड़ा है। उसकी चमक आज भी बरकरार है। इस लौह स्तंभ को आज दिल्ली के कुतुबमीनार परिसर में लाकर रखा गया है। इसकी बनावट के बारे में भिन्न-भिन्न प्रकार की गपोड़ता परोसी जाती है, लेकिन इस स्तंभ पर क्या लिखा है और किसने लिखा है उसके बारे में आज तक कोई सच्चाई बताने नहीं आता है। इस स्तंभ के शीर्ष पर उल्टा हुआ कमल का फूल बना है जो सम्यक परम्परा को दर्शाता है। क्योंकि इस प्रकार का उल्टा हुआ कमल का फूल सम्राट अशोक के शिला स्तंभ के ऊपर कई स्थानों पर बना है। इस स्तंभ पर बाह्मी लिपि की वर्णमाला से लिखावट की गई है जो उत्तर गुप्त काल (इस प्रकार के लिपि का क्रमिक विकाशः गुप्त

के अंत में और हूण के समय में मिलता है) की घुमावदार धम्म लिपि की वर्णमाला है। इन सब विषय के बाद भी उस अभिलेख पर लिखने वाले ने अपना नाम चंद लिखवाया है। अब इस चंद नाम और लिखावट की शैली से यह पक्के तौर पर कहा जाता है कि यह गुप्त काल के चंद गुप्त ही है। अब सबसे बड़ी बात इस स्तंभ पर वर्णित लेख की है। इस लेख में अगर कोई वेद, पुराण सहित किसी अन्य जानकारी की बात अगर लिखी गयी होती, तो समझो कि कलम कसाई लेखक आज पुस्तकों और टेलिविजन के माध्यम से इसकी जानकारी देकर लोगों को पुख्ता कर देते, लेकिन अफसोस आज सारे भ्रमवंशी लोग शांत हैं। आखिर क्यों! कुछ समझ में आता है!

इस लौह स्तंभ के बारे में यूरोप के विद्वान राबर्ट हैटफील्ड ने 1912 में, तत्पश्चात राष्ट्रीय धातुकर्मीय प्रयोगशाला एवं टाटा लौह एवं इस्पात कम्पनी ने अध्ययन किया था। इस अध्ययन से जो सामूहिक निष्कर्ष निकला था, उसका वर्णन शिलापट्ट के माध्यम से आज भी लगा है। उस शिलापट्ट का अंकित लेख इस प्रकार है—



लौह–स्तंभ

शताब्दी

यह प्रसिद्ध स्तम्भ कुव्वतुल-इस्लाम मस्जिद के प्रांगण में स्थित है। इस पर एक अभिलेख संस्कृत भाषा एवं गुप्त कालीन ब्राह्मी लिपि में उत्कीर्ण है। पुरालिपि के आधार पर यह चौथी शताब्दी का है जिसकी पुष्टि इसके ऊपर बने आमलक शीर्ष से भी होती है। अभिलेख से ज्ञात होता है कि इसे विष्णु पद नामक पर्वत पर भगवान विष्णु के (गरुड़) ध्वज के रूप में चन्द्र नाम के शक्तिशाली राजा की स्मृति में स्थापित किया गया था। इतिहास में इसकी पहचान गुप्तसाम्राज्य के वंशज चन्द्रगुप्त द्वितीय (375–413 ई.) से की गई है

ऊपर की ओर क्रमशः पतले इस (शुण्डाकार) स्तम्भ की कुल ऊंचाई 24 फीट है, जिसका 3 फीट भाग जमीन के नीचे दबा है एवं यह सात अलग - अलग भागों को संघटित कर बनाया गया है। इस पर सभी विद्वान एकमत है कि इसके उच्चकोटि के [illegible] इसके ऊपर एक अद्भुत जंगरोधी सुरक्षा परत बनाते हैं। स्तम्भ के ऊपर एक गड्ढा है जो इस बात का संकेत है कि इसमें मूलतः भगवान विष्णु के [illegible] की प्रतिमा लगी थी जो अब गुम हो गई है

लगभग 6000 किलोग्राम वजनी यह जंगरहित लौह स्तम्भ विशुद्ध पिटवा लोहे से निर्मित है। यह लौह स्तंभ प्राचीन भारतीय धातुकर्मीय कौशल का एक अद्भुत एवं धातुकर्मीय कौशल के इतिहास में एक अद्वितीय उदाहरण है। यहां तक कि 1851 ई० से पूर्व तकनीकी रूप से विकसित सदियों में भी ऐसा पिटवा लोहे का स्तम्भ नहीं बना, तब भारतवर्ष में 1600 वर्ष पूर्व ऐसा जंगरहित स्तम्भ कैसे बनाया गया होगा, एक आश्चर्य की बात है। सर्वप्रथम इस स्तम्भ पर रावर्ट हैटफील्ड ने 1912 में सुनियोजित तरीके से अध्ययन किया तत्पश्चात राष्ट्रीय धातुकर्मीय प्रयोगशाला एवं टाटा लौह एवं इस्पात कम्पनी ने अध्ययन किया।

लौह स्तंभ (चौथी शताब्दी)

"यह प्रसिद्ध स्तंभ कुव्वतुल-इस्लाम मस्जिद के प्रांगण में स्थित है। इस पर एक अभिलेख संस्कृत भाषा एवं गुप्त कालीन ब्राह्मी लिपि में उत्कीर्ण है। पुरालिपि के आधार पर यह चौथी शताब्दी का है, जिसकी पुष्टि इसके ऊपर बने आमलक शीर्ष से भी होती है। अभिलेख से ज्ञात होता है कि इसे विष्णु पद नामक पर्वत पर भगवान-विष्णु के (गरुड़) ध्वज के रूप में चन्द्र नाम के

शक्तिशाली राजा की स्मृति में स्थापित किया गया था। इतिहास में इसकी पहचान गुप्त साम्राज्य के वंशज चन्द्रगुप्त द्वितीय (375-413ई.) से की गई है।

ऊपर की ओर क्रमशः पतले इस (शुण्डाकार) स्तंभ की कुल ऊंचाई 24 फीट है, जिसका 3 फीट भाग जमीन के नीचे दबा है एवं सात भाग अलग-अलग भागों को संघठित कर बनाया गया है। इस पर विद्वान एकमत हैं कि इसके उच्चकोटि के उन्नत लौहांश इसके ऊपर एक अद्‌भुत जंगरोधी सुरक्षा परत बनाते हैं। स्तम्भ के ऊपर एक गड्ढा है जो इस बात का संकेत करता है कि इसमें मूलतः भगवान विष्णु का वाहन गरुड़ की प्रतिमा लगी थी जो अब गुम हो गयी है।

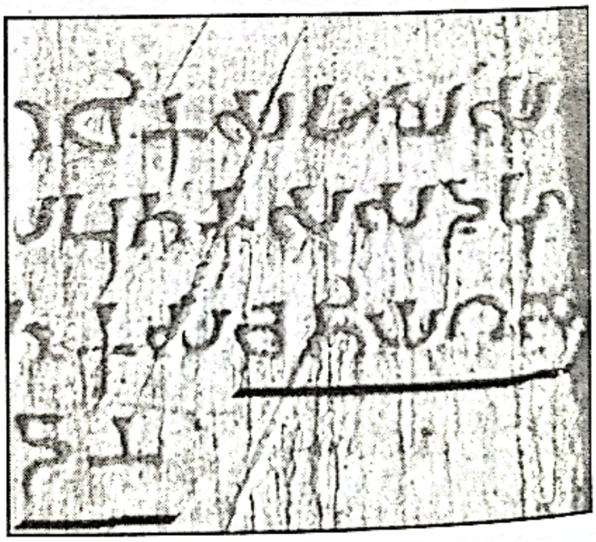
लगभग 6000 किलोग्राम वजनी यह जंगरहित लौह स्तंभ विशुद्ध पिटवा लोहे से निर्मित है। यह लौह स्तंभ प्राचीन भारतीय धातु कर्मीय कौशल का एक अद्‌भुत एवं धातुकर्मीय कौशल के इतिहास में एक अद्वितीय उदाहरण है। यहां तक कि 1851 ई. से पूर्व तकनीकी रूप से विकसित सदियों में भी ऐसा पिटवा लोहे का स्तंभ नहीं बना, तब भारतवर्ष में 1600 वर्ष पूर्व ऐसा जंगरहित स्तंभ कैसे बनाया गया होगा, एक आश्चर्य की बात है। सर्वप्रथम इस स्तंभ पर राबर्ट हैटफील्ड ने 1912 में सुनियोजित जरीके से अध्ययन किया, तत्पश्चात राष्ट्रीय धातुकर्मीय प्रयोगशाला एवं टाटा लौह एवं इस्पात कम्पनी ने अध्ययन किया।"

अब आप लोग इस लौह स्तंभ में लिखित स्तंभ लेख पर ध्यान दें कि कैसे कलम कसाई भ्रमवंशी द्वारा भ्रम का पुलिंदा बनाया गया है।

सबसे पहले तो स्तंभ लेख के पहले पौरा में यह ध्यान दें कि कलम कसाई लिख रहा है कि संस्कृत भाषा व ब्राह्मी लिपि का लेख है। लेकिन इस स्तंभ पर क्या लिखा है इसकी जानकारी देने में डरता है। इसी पहले पारा में कलम कसाई ने कल्पना कर ली कि भगवान विष्णु के ध्वज गरुड़ के रूप में इसकी स्थापना राजा चन्द्र ने किया था। अब सवाल बनता है कि जब स्थापना करने वाले को लिखने की कला मालूम थी, तो इन बातों को उसने स्पष्ट रूप से लिखा क्यों नहीं? सबसे मुख्य बात यह है कि इस चौथी शताब्दी में यानी गुप्त काल से लेकर पाल काल तक के अन्दर एक भी भ्रमिक कथा-कहानी या जाति-वर्ण का घिनौना ग्रंथ लिखा हुआ नहीं मिला है। यह तो आज के समय कलम कसाई द्वारा कल्पना के अधार पर

सिर्फ लिखकर भ्रम फैलाने की प्रवृति मात्र है। इस अनुवादक को आमलक की जगह पर उल्टा कमल का फूल और ऐसा उल्टा कमल का फूल सम्यक संस्कृति में सम्राट अशोक से लेकर कई स्तूपों पर मिलना हुआ है, ऐसा लिखने में कलम कसाई को शर्म आ रही थी।

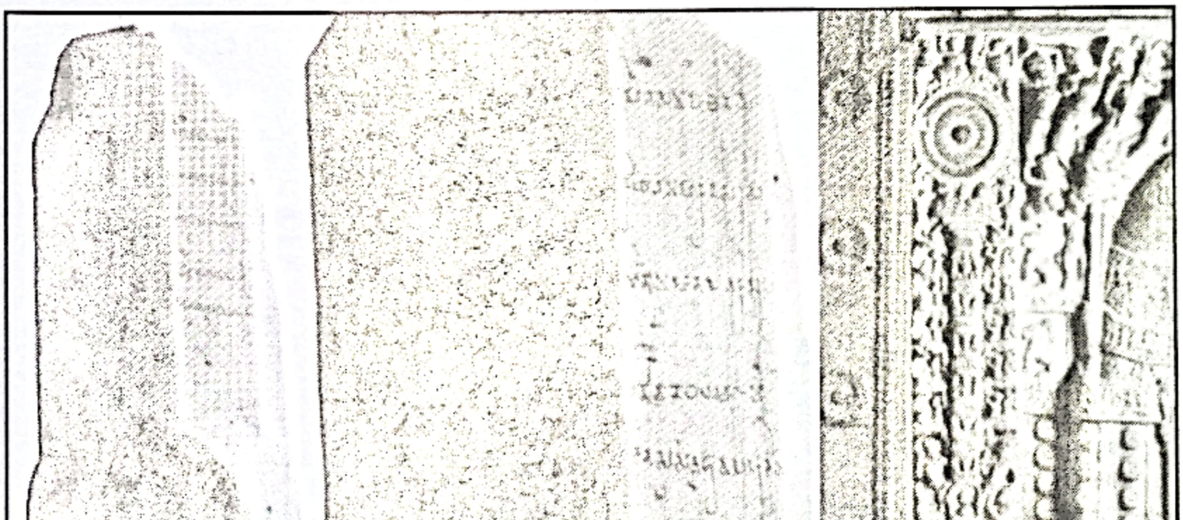
दूसरे पारा के अन्तिम में भ्रमवंशी लेखक कल्पना करते हुए लिखता है कि स्तंभ के ऊपर एक गड्ढा बना है जो इस बात का संकेत करता है कि इसमें मूलतः भगवान विष्णु के गरुड़ की प्रतिमा लगी होगी, जो गुम हो गई है! अब भ्रमवंशी पर सवाल बनता है कि इसने किस अधार पर कल्पना की कि स्तंभ के ऊपर गड्ढे में गरुड़ की ही प्रतिमा रही होगी? भ्रमवंशी को रात में जो सपना आता है दिन में उसको लिख देता है। बात यह है कि 'हो सकता' और 'होना' में इस कलम कसाई लेखक को अन्तर नहीं दिखता है! तुम सबों को भ्रम फैलाने हेतु जो मन में आता है उसको अपनी गपोड़ लीला से जोड़कर कहानी बना देते हो। इस सस्ते नशे की आदत से समाज में कितना विद्वेष फैला है इसका अन्दाजा है? आज तक इन गपोड़ियों को लौह स्तंभ पर लिखे हुए स्तंभ लेख का वास्तविक अनुवाद करने से डर लगता है।


अमरावती स्तंभ लेख और स्तूप

कलम कसाई द्वारा जिस प्रकार मध्य भारत में गुप्त राजाओं को ब्राह्मणी समर्थक बताकर भ्रम का पुलिंदा बनाया जाता है उसी प्रकार कलम कसाई द्वारा दक्षिण भारत के **ईक्ष्वाकु राजा** को भी भ्रमिक वंश के वंशावली से जोड़कर भ्रम का पुलिंदा बनाया जा रहा है। लेकिन प्राप्त साक्ष्य कुछ और ही कहानी की ओर इशारा करता है। मध्य भारत और उत्तर भारत में मौर्य शासक के बाद जिस प्रकार क्रमशः कुषाण शासक और गुप्त शासक के समय धम्म लिपि की लेखन शैली का गुणात्मक विकाश देखने को मिलता है, उसी प्रकार दक्षिण भारत में भी सातवाहन के बाद धम्म लिपि का क्रमशः गुणात्मक विकाश देखने को मिला है। जिसका कुछ साक्ष्य आप लोगों के बीच रख रहा हूं। ईस्वी सन् 200 से 250 ई. तक अमरावती में

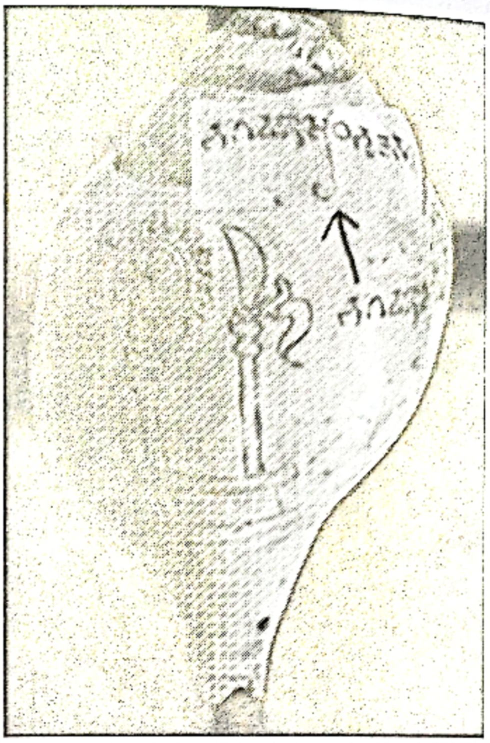
ईक्ष्वाकु राजाओं का शासन आ गया था। इसी समय का अमरावती और नागार्जुनीकोण्डा के स्तूप का भी निर्माण मिलता है। अमरावती के स्तूप से एक स्तंभ लेख प्राप्त हुआ है जिस पर इक्ष्वाकु (इक्वाकु) शैली की धम्म लिपि द्वारा **'चेतिय गभो दान'** (𑀘𑁂𑀢𑀺𑀬 𑀕𑀪𑁄 𑀤𑀸𑀦) लिखा हुआ संदेश प्राप्त हुआ है। जिसको आप लोग चित्र में देखें। अब यह तो सबको पता है कि धम्म लिपि और चैत्य की संस्कृति वाला कौन संस्कृति हो सकता है! क्या है कि भ्रमवंशी कलम कसाइयों ने सिर्फ कागजों में ही लिखकर भ्रम का पुलिंदा बनाया है, इन्होंने आज तक एक भी अपने भ्रमिक वंश का लिखा हुआ लिखित अभिलेख दिखाया नहीं है। इस वजह से भ्रमिक कलम कसाई से पुनः अनुरोध करता हूं कि अपने ब्रह्म ज्ञानी पूर्वजों द्वारा कुछ लिखा हुआ अभिलेख भी दिखाओ!

अमरावती स्तूप के बाद नागर्जुनीकोंडा की पहाड़ी पर बहुत ही विशाल मात्रा में सम्यक संस्कृति का साक्ष्य मिला है, जिसमें आचार्य नागार्जुन का स्तूप के साथ-साथ अष्टकोण के आकार का स्तंभ लेख और उस पर धम्म चक्र बना हुआ मिला है। स्तंभ पर की लिखावट भी इक्ष्वाकु शैली की धम्म लिपि है। जिसको नीचे चित्र में देखा जा सकता है।



नागर्जनकोंडा स्तंभ लेख व स्तंभ

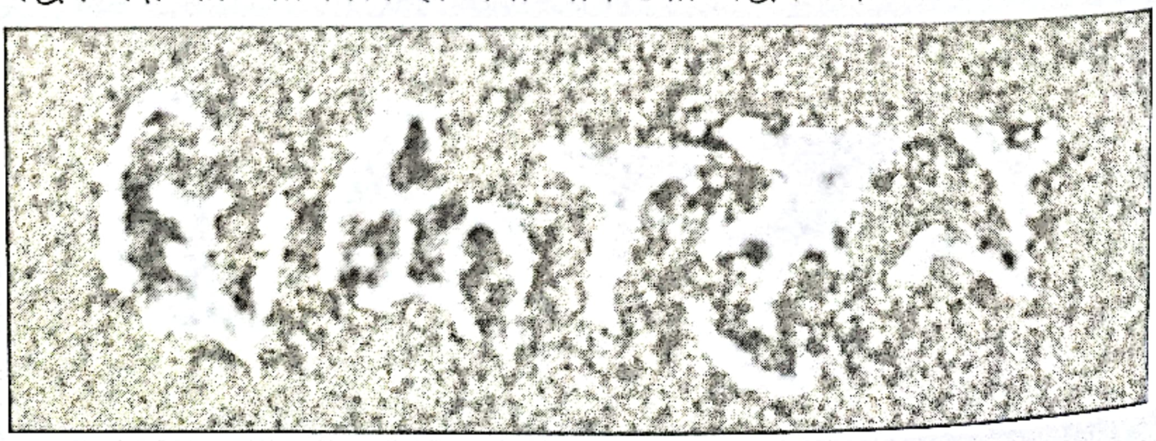
इक्ष्वाकु शासन में ही एक इक्ष्वाकु शैली का शंख अभिलेख मिला है, जिस शंख पर अष्टचक्र के साथ बज्र का निशान बना हुआ है, साथ ही धम्म लिपि में **भगवतो अठभुजा सामीसा** (𑀪𑀕𑀯𑀢𑁄 𑀅𑀞𑀪𑀼𑀚𑀸 𑀲𑀸𑀫𑀻𑀲𑀸) लिखा हुआ है, जिसको देखा जा सकता है। भगवान बुद्ध द्वारा स्थापित आष्टांगिक मार्ग को अठभुजा के रूप में जाना जाता है।



शंख अभिलेख

इतना साक्ष्य व लिखित प्रमाण मिलने के बाद भी भ्रमिक वर्ग के कलम कसाई भ्रम का पुलिंदा बनाने से बाज नहीं आते हैं। लगता है कि भ्रमिक वंश के पूर्वज अदृश्य मिस्टर इंडिया के साथ-साथ अनपढ़ और मूर्ख भी थे, तभी तो आज कलम कसाई के वास्ते कोई भी जानकारी को लिखने का कार्य नहीं किया था। यह तो आज के भ्रमवंशी लोग हैं, जो अपने स्वप्नों के आधार पर मनोनुकूल बात को किताबों में लिखकर भ्रम का पुलिंदा बनाते जा रहे हैं।

गुप्त काल के बाद सम्यक संस्कृति में एक और विदेशी शासक हूण का आगमन होता है लेकिन यह भी सम्यक संस्कृति में विलीन हो जाता है। ऐसे तो आज के पुस्तकों की माध्यम से यह पढ़ाया जाता है कि मिहिरकुल ने सम्यक संस्कृति का समूल खात्मा करते हुए वाराहावतार जैसे गपोड़ पंथ की स्थापना ही कर दी थी और पूर्व काल से चली आ रही सम्यक संस्कृति का खात्मा ही कर दिया था। इसका अर्थ यह हुआ कि भगवान बुद्ध की ज्ञान पर आधारित सभी शिक्षण संस्थानों का बन्द हो जाना? लेकिन दुर्भाग्य से ऐसा एक भी प्रमाण नहीं मिलता है। जैसा कि आज पुरातात्विक रूप से प्रमाणित है और आप लोग भी जानते हैं कि मिहिरकुल (हूण) की सत्ता छठी शताब्दी के समय स्थापित थी और सातवीं शताब्दी के समय सत्ता पर वर्द्धन वंश का आधिपत्य हो गया था। उसी वर्द्धन वंश के समय भगवान

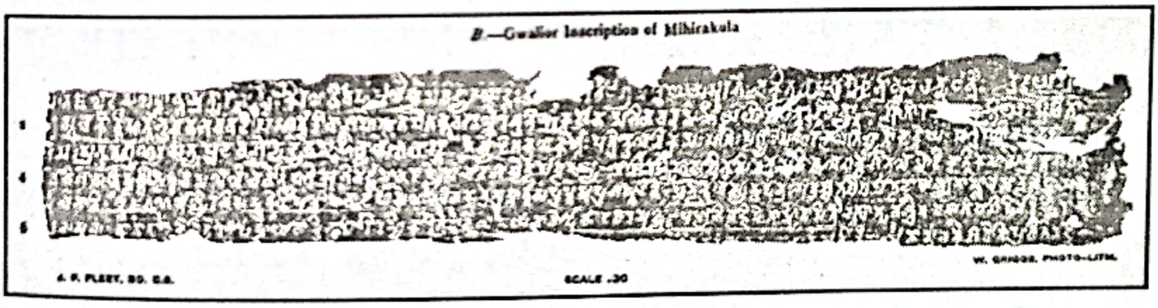


नागर्जनकोंडा स्तंभ लेख व स्तंभ

बुद्ध का धम्म, ज्ञान और अज्झत्त (**धर्म, ध्यान, अध्यात्म**) को प्राप्त करने ह्वेनसांग भारत आया था। अब प्रश्न उठता है कि मिहिरकुल ने जब भगवान बुद्ध की स्थापित सम्यक संस्कृति को खत्म कर दिया था तो फिर ह्वेनसांग भारत क्या करने आया? चलो किसी कारण बस आ ही गया तो मिहिरकुल द्वारा स्थापित गपोड़ वाराहावतार वाली कथा कहानी की सभ्यता को देख क्यों नहीं पाया था?

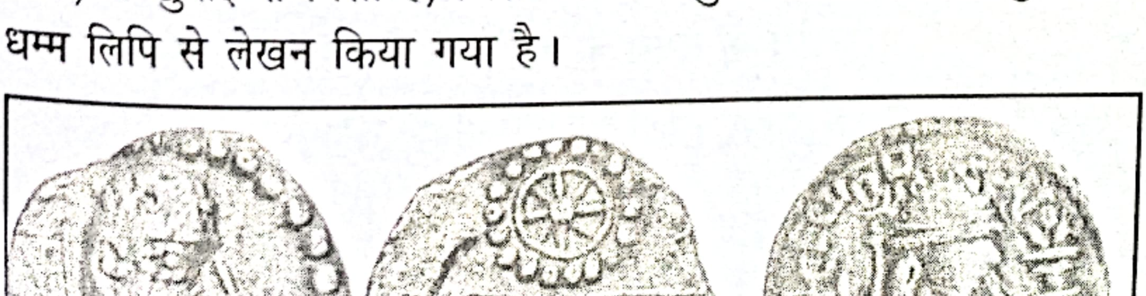
सबसे मुख्य बात कि मिहिरकुल को जब लिखना पढ़ना आता था तो उसने उस समय की भाषा-लिपि द्वारा वाराहावतार वाली गपोड़ कथा को कलमबद्ध क्यों नहीं किया?

इस पुस्तक में ऊपर भी लिख चुका हूं कि सत्ता प्राप्ति हेतु एक शासक से दूसरे शासक में युद्ध होना स्वभाविक क्रिया है, और उस युद्ध में दोनों ओर का जनजीवन सहित विभिन्न प्रकार का निर्मित स्थल (अराध्य स्थल) का टूटना-फूटना होता है। इसका अर्थ यह नहीं होता है कि वह आक्रमण करने वाला शासक उस अराध्य स्थल का विरोधी है।



ग्वालियर अभिलेख

मिहिरकुल नाम के एक शासक का लिखित अभिलेख ग्वालियर (मध्य प्रदेश) में खुदाई से मिला है, जिस पर उत्तर गुप्त काल के जैसा घुमावदार धम्म लिपि से लेखन किया गया है।



ग्वालियर अभिलेख और मुद्रा

हूण काल के समय में भी कोई वैदिक ज्ञान या विदेशी ज्ञान प्रामाणिक तौर पर प्राप्त नहीं हुआ है। सिर्फ भ्रमवंशी लेखकों द्वारा ऐसा आकलन किया जाता है कि हूण सूर्य के उपासक थे, इस वजह हूणों ने अपने कार्यकाल में सूर्य मंदिर का निर्माण किया था। लेकिन उसने कौन-सा सूर्य मंदिर बनाया, इसकी जानकारी नहीं है। भारत में आज जितने भी सूर्य मंदिर के नाम से प्रसिद्ध मंदिर हैं उन सभी मंदिरों में भगवान बुद्ध की मूर्ति स्थापित है, जिसका वर्णन सूर्य मंदिर में स्थापित मूर्ति का चित्रों के साथ 'वैदिक युग के घालमेल' पुस्तक में किया गया है, आप लोग भी उसे देख सकते हैं।

अभी तक भारत की धरती पर शक, कुषाण, पहलव और हूण के रूप में विदेशी शासक शासन करने आये, लेकिन सभी ने अपने-अपने कार्यकाल में सम्यक ज्ञान व सम्यक संस्कृति के अन्दर विलुप्त होना उचित समझा। लिखित रूप से स्पष्ट तौर पर किसी का भी सम्यक संस्कृति से अलग दूसरी नई संस्कृति का साक्ष्य नहीं मिला है। ऐसे जिसको गाल बजाकर खाने की आदत है वैसे भ्रमभाट लोगों को फिर से 'अभिलेख की खोज' नामक एक पुस्तक और साथ में इसी नाम से एक धारावाहिक बनाना चाहिए। सिर्फ भ्रम का पुलिंदा बनाने से अब कुछ नहीं होगा।

हूण के बाद सम्यक काल का शासन उत्तरी क्षेत्र में क्रमशः वर्द्धन वंश और पाल वंश का आता है तो दक्षिणी क्षेत्र में संगम काल का आता है। लेकिन इस काल में भी लिखित रूप से कोई भ्रम कथा का आज तक प्रमाण नहीं दे पाया है।

उत्खनन में पाल वंश के समय के काफी पठनीय मुद्रा व अभिलेख मिले हैं। प्राप्त मुद्रा व अभिलेख पर की लिखावट नागरी लिपि की है। लेकिन सबसे बड़ा आश्चर्य कि यह सारी लिखावट धातु प्लेट पर की गयी है। इस समय तक की एक भी लिखावट कागज की पाण्डुलिपि पर नहीं मिली है। इससे साफ स्पष्ट हो जाता है कि पाल वंश के प्राप्त अभिलेख के समय से पूर्व कोई भी भ्रम का पुलिन्दा का लेखन कागज की पाण्डुलिपि पर नहीं हुआ था। फिर भ्रमवंशी लेखकों को पाल वंश से पूर्व के रहे पाणिनि, पतंजलि, चाणक्य और कालिदास जैसों द्वारा लिखित कागज पर के लेख कैसे प्राप्त

हुए? वे उनके मूल साक्ष्यपरक ग्रंथ की प्रति से संबंधित कोई भी साक्ष्य उपलब्ध नहीं कराते हैं। साक्ष्य की बात पर वे सभी कलम कसाई लेखक गोल मटोल मौखिक बातें करते हैं।

सम्यक संस्कृति की बेहतरी के लिए पाल वंश के प्रारंभिक सम्राटों का कार्य अद्वितीय है। लेकिन कभी-कभी रक्षा में हत्या हो जाती है, यह बात शायद पालवंश के समय में घटित घटना को देखकर लगता है। हुआ यूं कि पालवंश ने भगवान बुद्ध की देसना को सरल और सर्व-सुलभ बनाने हेतु आर्य महासांघिक संघ से आर्य वज्रयान संघ का निर्माण किया और उसकी बेहतरी हेतु एक विश्वविद्यालय की स्थापना भी की थी। जिस विद्यालय का नाम विक्रमशिला विश्वविद्यालय रखा गया था। यह विक्रमशिला विश्वविद्यालय अपने समय में काफी प्रसिद्ध था। इसी पाल वंश के समय पूर्व से संचालित ओदवंतपुरी बुद्ध विहार को भी विश्वविद्यालय में परिवर्तित करने का कुछ साक्ष्य मिलता है। खैर जो भी हो पालवंश के शासकों की मंशा पर कोई शक नहीं किया जा सकता है, लेकिन वज्रयान संघ की जो ज्ञान (ध्यान) और अज्ञत (अध्यात्म) थी, वह जनसामान्य अनाड़ी (अनार्य) गृहस्थों हेतु सर्वसुलभ किया हुआ था। जिस वजह से वज्रयान आर्य संघ में पूर्व की कठिन साधना की जगह पर शब्दों की टंकार वाली तंत्र, मंत्र और कथा कहानी से युक्त कर्मकाण्डों की भरमार लगी थी। बस वज्रयान आर्य संघ का वही तंत्र, मंत्र और कथा कहानी वाले कर्मकाण्ड की वजह से भगवान बुद्ध की शुद्ध विद्या अपना अस्तित्व खोकर एक नयी अवलोकितेश्वर वाले अलौकिक ईश्वर का प्रचलन, तारा-दुर्गा वाली चामत्कारिक शक्ति-पीठ वाले कर्मकाण्ड की परीपाटी का जन्म हुआ है, जिसको आप सभी लोग इसी पुस्तक में पढ़ेंगे और अनुभव करेंगे।

पाल वंश के दक्षिणी भागों में संगम काल (आर्य संघ का काल) का शासन चल रहा था। जहां शैव मत और वैष्णव मत का जन्म हो रहा था, तो उत्तर भारत में वज्रयान से शाक्त मत का जन्म हो रहा था। इस वजह से दसवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी के समय दक्षिण भारत में जितने भी मन्दिरों का निर्माण हुआ, उन सभी मंदिरों के अन्दर की मूर्ति में शैव बोधिसत्त्व और वैष्णव बोधिसत्त्व की बनावट ही मिलती है, तो वहीं उत्तरी भारत में उत्तर-पूर्व दिशा से लेकर बंगाल, बिहार, झारखंड, हिमाचल और

जम्मू तक हिमालय के मैदानी भागों में शाक्त मत का उदय की वजह से इन मंदिरों में तारा बोधसत्त्व और मंजूश्री बोधीसत्त्व की मूर्तियों (शक्ति उपासना) का बनना शुरू हुआ था।

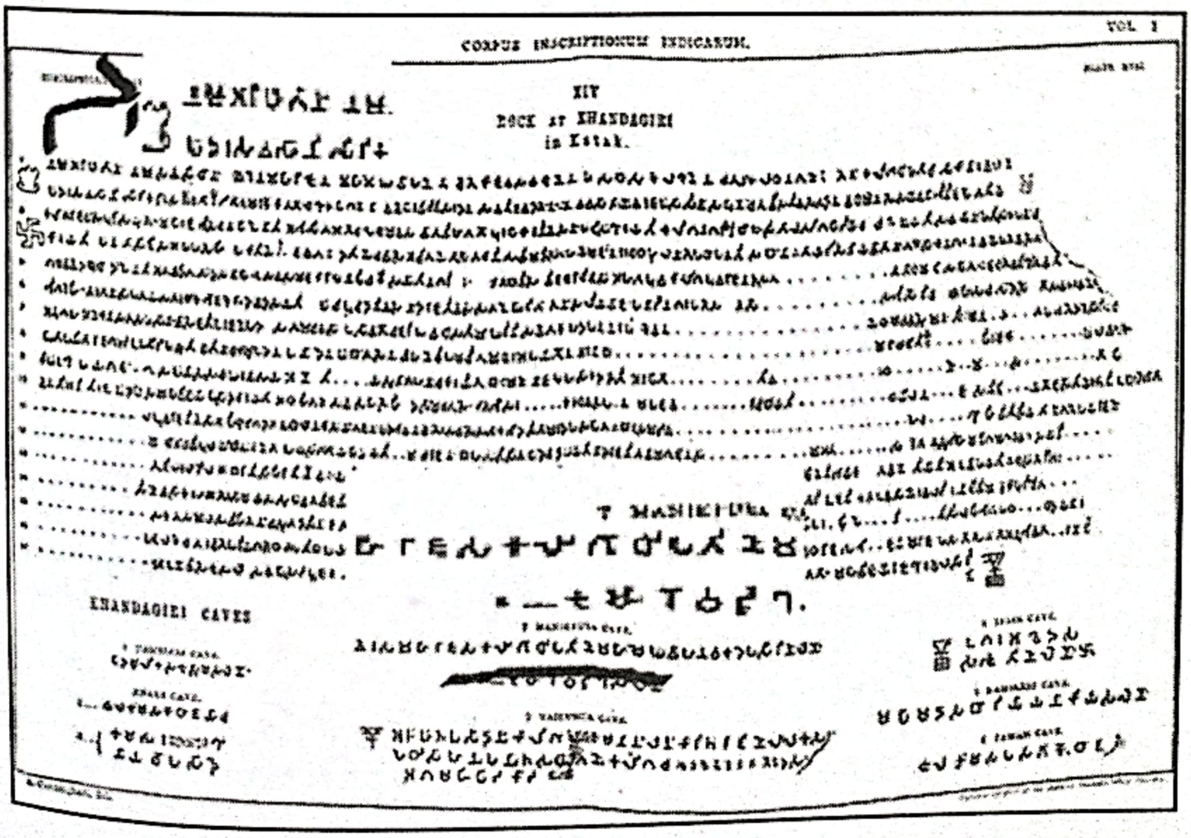
पाल वंश में नौवी-दसवीं शताब्दी के समय सम्यक काल के आर्य महासांघिक संघ के बोधिसत्त्वों में छोटे-छोटे समूह में विखण्डन होने लगा था। इसी वजह से इसे सम्यक काल से सम्यक अंत काल का संक्रमण काल माना जाता है। इस समय चारों ओर अपने दर्शन (मत) को स्थापित करने की होड़ लगी थी। जिस वजह से पूर्व के आर्य महासांघिक संघ के द्वारा लिखित त्रिपिटक या अन्य सभी साक्ष्यों को भी विकृत करने की एक मुहिम जारी हो गयी थी। जिसको ये लोग विकृत कर सकते थे, उसको तो विकृत किये ही और जिसे विकृत नहीं कर सकते थे, वैसे सभी साक्ष्यों को नष्ट करने का काम भी करने लगे थे। यही कारण है कि आज पाल वंश, वर्द्धन वंश, गुप्त वंश के समय के लिखित अधिकांश अभिलेख नहीं मिलते हैं। ऐसा नहीं है कि उस समय लेखन प्रक्रिया बंद हो गयी थी, उस समय तो लेखन हेतु और ज्यादा विश्वविद्यालय स्थापित हुए। लेकिन भ्रमवादियों ने भ्रम के पुलिंदा को प्रत्यारोपित करने हेतु सम्यक काल के साक्ष्यों को मिटाया था। सबसे बड़ी बात यह है कि सम्यक काल के सभी प्रमाणों को नष्ट करते हुए अपने अपने लाभ वाले भ्रमवाद को प्रत्यारोपित करने वाले धूर्त भ्रमवादियों ने सम्यक काल के उत्कृष्ट शिक्षण संस्थानों को नष्ट कर दिया था। लेकिन कलम कसाई भ्रमवादियों ने इस बात को एक झूठी कहानी का स्वरूप बनाते हुए सारा आरोप एक विदेशी धन लुटेरे पर लगा दिया। भला धन लुटेरे को किसी के किताब और उसकी संस्कृति के प्रमाणों को मिटाने से क्या लाभ? उसे तो सिर्फ धन चाहिए था! फिर भी सम्यक काल के सबसे ज्यादा प्रसिद्ध नालंदा विश्वविद्यालय को किसने और क्यों जलाया था, उसका साक्ष्यों के साथ खुलासा 'वैदिक युग के घालमेल' पुस्तक में किया गया है।

➢ अभी तक आप लोग जिस साक्ष्य और उससे जुड़ी घटना से रूबरू हो रहे हैं, उसमें दो विषयों पर ज्यादा ध्यान देने की जरूरत है। पहली घटना यह कि मौर्य काल से लेकर उत्तर गुप्त काल तक के जो भी लिखित साक्ष्य मिलते हैं, उनमें से ज्यादातर टूटी हुई अवस्था में क्यों

मिलते हैं! और उत्तर गुप्त काल से लेकर पाल वंश तक का कोई भी अभिलेख क्यों नहीं मिलता है! क्या इस समय किसी शासक ने या किसी शिक्षण संस्थान द्वारा किसी अभिलेख का लेखन नहीं हुआ था?

➢ ह्वेनसांग के यात्रा वृतांत में इस समय के भारत का कुछ अलग ही वर्णन मिलता है, आखिर ऐसा क्यों?

➢ दरअसल सम्यक काल का समय शुद्ध राज-तंत्र का था, जहां राज-सत्ता का बदलाव युद्ध की शक्ति (हत्या) के द्वारा होता है। जहां हर राजा अपनी राज-सत्ता की बढ़ोत्तरी हेतु पड़ोसी की राज-सत्ता पर आक्रमण करता रहता था। बात तो सम्यक काल की है, तो फिर उस समय के सभी राजा सम्यक अनुयायी से ही जुड़े होंगे। जब सम्यक राजा एक दूसरे पर आक्रमण करेगा तो उस युद्ध में सम्यक के सामने सम्यक अनुयायी सैनिक ही होगा। फिर तो मरना भी सम्यक अनुयायी सैनिकों का ही होगा, उसकी जगह पर गैर-सम्यक अनुयायी सैनिक मरने थोड़े ही आएगा! मौर्य वंश के पहले शिशुनाग वंश को हटाकर उस राजगद्दी पर नंद वंश आया था। दोनों तो सम्यक अनुयायी ही थे। इन दोनों में युद्ध हुआ होगा। उसी प्रकार नंद वंश और मौर्य वंश के साथ भी युद्ध हुआ था, आगे मौर्य वंश के साथ दक्षिण में सातवाहन वंश, तो

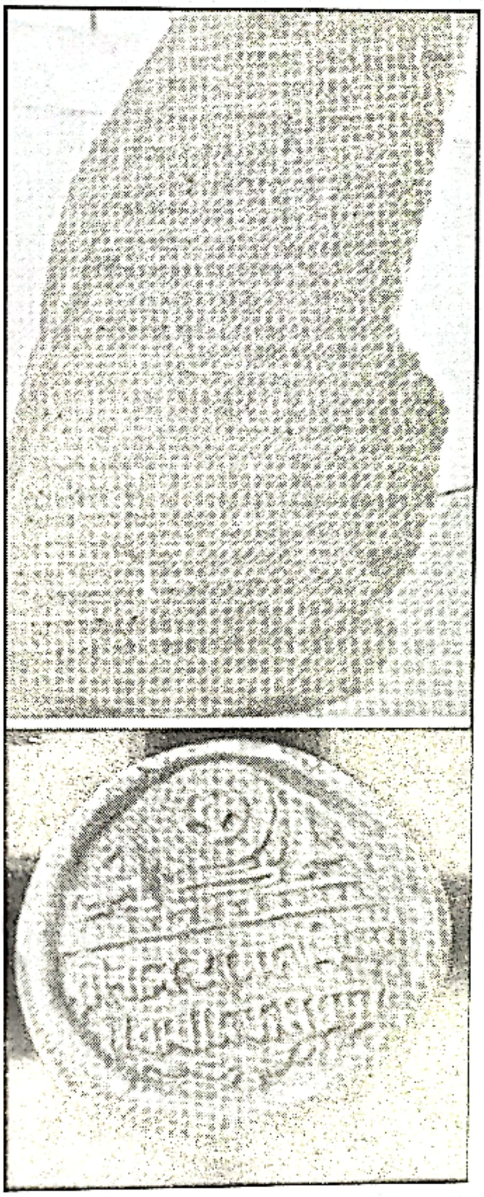


उड़ीसा का अभिलेख

मध्य में शुंग वंश में, तो पश्चिम में शक के साथ युद्ध हुआ। शुंग शासकों द्वारा अभी तक एक भी सम्यक संस्कृति के विरुद्ध लेखन या कोई पुरातात्विक साक्ष्य नहीं मिला है। शुंग और कण्व में युद्ध हुआ, कण्व और शक में युद्ध हुआ, शक और कनिष्क में युद्ध हुआ, कनिष्क और गुप्त में युद्ध हुआ, सभी तो सम्यक अनुयायी ही हैं, फिर तो निश्चित ही दोनों ओर से हताहत होने वाले सम्यक अनुयायी सैनिक ही होंगे। यह राज-तंत्र की स्वाभाविक प्रक्रिया है। उसी प्रकार कलिंग युद्ध की घटना काफी प्रचलित है। अब कलिंग के युद्ध में कलिंग का शासक सहित लाखों लोग हताहत हुए थे। वह भी सम्यक अनुयायी ही थे। कलिंग शासक का एक अभिलेख है, जो उड़ीसा के हाथी गुफा से मिला है। उस अभिलेख में सबसे ऊपर धम्म लिपि में **नमो अरिहंतानं** (𑀦𑀫𑁄 𑀅𑀭𑀺 𑀳𑀁𑀢𑀸𑀦𑀁) लिखा हुआ है, तो नीचे में **राजस कलिगाधिपति** (𑀭𑀚𑀲 𑀓𑀮𑀺𑀗 𑀥𑀺𑀧𑀢𑀺) लिखा है। ऐसे युद्ध में राजा का किला, राजा द्वारा निर्मित कोई सम्यक अराध्य स्थल का टूटना-फूटना हो जाता है, लेकिन कोई शासक उस सम्यक संस्कृति के टूटे साक्ष्यों को एक साज़िश के तहत गायब नहीं करता है। जबकि भ्रमवाद के प्रत्यारोपन के समय पूर्व कालीन सभी साक्ष्यों को नष्ट करने का काम किया गया है और आज भी भ्रम वंश के पुत्रों द्वारा यदा-कदा नष्ट करने का काम देखने को मिल जाता है।

नोट—आप लोगों ने ज्ञात इतिहास काल यानी सम्राट बिम्बिसार से लेकर पाल वंश तक के सभी लिखित व पठनीय अभिलेख के साथ-साथ उस समय की मुद्रा को देखा। उन सभी मुद्राओं में मिली लिखावट धम्म लिपि की है। उस लिखावट से भ्रमवंश के प्रत्यारोपण द्वारा संस्कृत का व्याकरण, संस्कृत में अर्थशास्त्र, संस्कृत में नाटक के साथ-साथ भ्रमवादी का कोई ग्रंथ लिखा नहीं जा सकता है। दूसरा, ऐतिहासिक काल में सांकेतिक रूप से बोधिसत्त्व की काफी मूर्तियों का निर्माण हुआ था। उन मूर्तियों के साथ लिपिबद्ध किया हुआ कोई अभिलेख नहीं मिला है जिस वजह से उसका सही नाम बताना भी उचित नहीं है। यह अलग बात है कि अनेक मतों के भ्रमवादियों ने अलग-अलग बोधिसत्त्व की आकृति को अपना मुक्तिदाता बना लिया है, जिससे भ्रमवादियों का मुफ्त जिवकोपार्जन होता रहे।

यहां पर ध्यान देने की बात यह है कि नौवीं-दसवीं शताब्दी में जब धम्म लिपि का विकाश नागरी लिपि में हो गया था, तब भी उस समय सम्यक ज्ञान का लेखन नागरी लिपि द्वारा शिला पर, ताम्र पत्र पर या मिट्टी के सील पर होता था, लेकिन इस समय में भी भ्रमवादियों द्वारा लिखा गया कोई भी भ्रम का पुलिंदा शिला पर, ताम्र पत्र पर या मिट्टी के सील पर नागरी लिपि में नहीं मिला है। भ्रमवंशियों द्वारा लिखित सभी ग्रंथ (वेद, उपनिषद, गीता, बाल्मिकि रामायण, तुलसी रामायण, पुराण) कागज की पाण्डुलिपि पर लिखी मिली है। इसी वजह से इन लोगों ने नागरी लिपि वाले शिलालेख, ताम्रलेख को आज दबा रखा है, ताकि अपने कागज वाली पाण्डुलिपि को भ्रम का पुलिंदा बताते हुए बहुआयामी काल का बता सकें। जिसको चित्र में देख सकते हैं।



हिन्दी की शिलालेख

सांकेतिक मूर्ति की बनावट और सांकेतिक भाषा का उदय

सम्यक काल का सबसे महत्त्वपूर्ण काल यही काल है। इस काल में सम्यक संस्कृति में मंत्र सिद्धि साधना का प्रभाव बढ़ने लगा था, जिसकी वजह से सम्यक मार्ग में एक नए मार्ग का निर्माण हुआ या बनना होता है। ऐसे तो सम्राट कनिष्क के समय में भी पूर्व का आर्य थेर मार्ग (श्रेष्ठ स्थिर मार्ग) में भी कुछ आंशिक बदलाव करते हुए महासांघिक आर्य थेर मार्ग (श्रेष्ठ मार्गियों का बड़ा संघठन) का निर्माण हुआ था। जिसको आज लोग साहित्यिक रूप से हीनयान और महायान के नाम से जानते हैं। जबकि ऐसा लिखा हुआ नाम किसी को मिला नहीं है। ये दोनों भगवान बुद्ध के द्वारा बताए मार्गों का ही पालन करते हैं, लेकिन इन दोनों में एक आंशिक अंतर है कि एक भगवान गौतम बुद्ध की मूर्ति को आदर्श स्वरूप

में स्थापित करता है तो दूसरा भगवान की मूर्ति को स्थापित नहीं करता है। दूसरा अंतर भिक्खु-संघ के विनय (नियम) का है। एक ने समय के अनुसार नियम में थोड़ी छूट का प्रावधान रखा तो दूसरे ने भिक्खु-संघ के सभी नियम (शील) को यथावत बरकरार रखा। इस वजह से कोई ज्यादा प्रभाव नहीं पड़ा। आज विश्व में दो ही देश हैं, जो आर्य थेरमार्गी हैं, बाकी सभी देशों के अनुयायी आर्य महासांघिक मार्गी हैं। भारत के लोग भी आर्य महासांघिक मार्गी थे। इस वजह से भारत में भी भगवान बुद्ध की मूर्तियां या बुद्ध की मूर्तियों के काफी मंदिर (विहार) मिलते हैं।

लेकिन पाल वंश के बाद से आर्य महासांघिक मार्गी समूह से कुछ साधक उपासक द्वारा तंत्र मंत्र सिद्धि साधना को प्रधान बनाने के लिए एक अलग मार्ग बनाने का प्रमाण मिलता है, जिस मार्ग का नाम वज्रयान मार्ग है। इसमें इन लोगों द्वारा कठिन विपश्यना साधना की जगह पर आसान ध्वनितरंगों के मंत्रों की जाप वाली साधना पद्धति का निर्माण किया गया था। इसमें भगवान बुद्ध की मूर्ति के साथ बोधिसत्त्व की मूर्ति की भी प्रधानता बनने लगी और इन मूर्तियों के सामने बैठकर तंत्र मंत्र की ध्वनि के 'ओम मणि पद्मे हुम, ओम क्लीं फट फुट स्वाहा' साधना की परम्परा चल निकली। ऐसे कई मंत्रों और मूर्तियों का साक्ष्य मिलता है, जिसको आप लोग देखेंगे। इस साधना में ध्वनि तरंगों से लाभ होता है या नहीं, यह बाद का विषय है; लेकिन एक लंबी और कठिन साधना विपश्यना विधि से सरल और सुलभ विधि के बन जाने से इस मार्ग में उत्तरी भारत के काफी लोग आकर्षित हो रहे थे और इसी कारण भारत के उत्तरी भागों में वज्रयान मार्ग से निकलकर शाक्त मार्ग, तंत्र मार्ग, साधना मार्ग की स्थापना हुई। इसका हिमालय के तराई क्षेत्रों में काफी प्रभाव स्थापित हो गया था। इसी वजह से भ्रमवंशियों से दूर पहाडों पर आज भी आपको कुछ वज्रयान मार्गी लोग मिल जाएंगे। जैसे लेह, लद्दाख, तिब्बत, भूटान। इसको आज भी कोई देख व महसूस कर सकता है। साथ ही उस समय में कुछ अनाड़ी (अनार्य) लोगों को भी इस मार्ग से जोड़ने हेतु भगवान बुद्ध और बोधिसत्त्व की साधनारत मूर्तियों का निर्माण भी हुआ था। इन मूर्तियों में इन अनाड़ी लोगों को समझाने हेतु कई सर, कई हाथ और उन हाथों में कई प्रकार की वस्तुओं को दिखाने की प्रथा भी चल निकली थी।

सम्यक काल के लिए पाल वंश का कार्यकाल काफी महत्त्वपूर्ण माना जाता है। उस समय आर्य महासांघिक संघ से कुछ बोधिसत्त्वों द्वारा वज्रयान सांघिक संघ का निर्माण हो रहा था। पाल वंश के शासक देवपाल (दसवीं सदी) भी उसके समर्थन में थे। क्योंकि वज्रयान सांघिक संघ के सुदृढ़ीकरण हेतु इन्होंने अपने कार्यकाल में एक शिक्षण संस्थान, जिसका नाम विक्रमशिला विश्वविद्यालय था, की स्थापना की थी। ताकि वज्रयान महासंघ के अन्दर विद्या-अध्ययन और उसके शोध का भी विस्तार हो। वस्तुतः वज्रयान सांघिक संघ में बोधिसत्त्व की प्रधानता ज्यादा है। जिस वजह से वज्रयान के अन्दर बोधिसत्त्व की संख्या कई रूप और कई नामों से मिलती है।

उसी बोधिसत्त्व में एक नाम प्रच्छन्न बौद्ध का आता है, जिसे बाद में लोग आदि शंकर के नाम से जानते हैं। क्योंकि प्रच्छन्न बौद्ध ने वज्रयान से अपने को अलग करते हुए अपना एक अलग दर्शन 'शैव यान' के नाम से स्थापित किया था। जिस शैव दर्शन का पहला सार था **'ब्रह्म सत्या जगत मिथ्या'**। सम्यक काल के समय **बम्ही, बम्हन, बाभन** का उपयोग विद्वान व्यक्ति या विद्वान वर्ग के लिए किया जाता था, परन्तु सम्यक अंत काल में भ्रमवादी गिरोह के मुखिया ने उसी **बम्ही** शब्द को संस्कारित करते हुए ब्रह्म शब्द का निर्माण किया था। जिसका उपयोग इन लोगों ने एक अदृश्य सृष्टि संचालक के रूप में किया था। बाद में इस अदृश्य ब्रह्मा की मूर्ति की नकल वज्रयान मार्ग के अन्दर चार मुखी बौद्ध आकृति से की गई थी। वस्तुतः यह भगवान बुद्ध की चार मुखी मूर्ति खुदाई से आज मिली है, जिसको आप भी देख सकते हैं। इस मूर्ति की बनावट में चार मुख हैं, जिसमें प्रत्येक मुख से क्रमशः करुणा (दया), मित्ता (मैत्री), मुदिता



चार मुख के बुद्ध

(मोद, खुशी), उपेक्खा (समता) के भाव निकलने का अभिप्राय है। लेकिन इस बनावट को लेकर भ्रमवंशियों ने ब्रह्मा का प्रत्यारोपण (Implant) करते हुए भ्रम का पुलिंदा बना दिया है।

आज सभी लोग उसे शैव सम्प्रदाय के नाम से जानते हैं। शैव सम्प्रदाय के पहले बोधिसत्त्व की मूर्ति हिमाचल प्रदेश के स्फिति जिला में मिली है, जिसे त्रिलोकीनाथ कहते हैं।



त्रिलोकी नाथ की मूर्ति

त्रिलोकीनाथ का मंदिर आज काफी विख्यात है। यहां वज्रयान के अनुयायी और शैव सम्प्रदाय के अनुयायी दोनों दर्शन को आते हैं। इस मूर्ति की खासियत यह है कि नीचे में शैव बोधिसत्त्व साधना मुद्रा में बैठे हैं जिनके छः हाथ हैं। इन छः हाथों में दो हाथ धर्म-चक्र की मुद्रा में हैं, एक हाथ भूमि स्पर्श की मूद्रा में है, एक हाथ वितर्क की मुद्रा में है, एक हाथ वरद की मुद्रा में है, तो छठा हाथ अभय मुद्रा का लग रहा है। इस बोधिसत्त्व मूर्ति की सबसे बड़ी बात यह है कि अपने सर माथे पर आदर्श के रूप में भगवान गौतम बुद्ध की मूर्ति को स्थापित किए हुए हैं। शैव पंथियों का ब्रह्म सत्या जगत मिथ्या वाले भ्रम के पुलिंदे की सच्चाई यही है।

ऐसे तो शैव सम्प्रदाय वाले ज्यादा शिव लिंग पूजक हैं। भारत के पुरातात्विक उत्खनन में कई स्थानों की खुदाई से शिव लिंग मिला है, जिस पर भगवान बुद्ध की आकृति बनी है। जिसके बारे में विस्तार से आप 'वैदिक युग के घालमेल' पुस्तक में पढ़ सकते हैं। मथुरा के पास कंकाली टीला से कुषाणकालीन एक अर्घा सहित शिव लिंग मिला है जो मथुरा के संग्रहालय में सुरक्षित रखा है, जिसे चित्र में भी देख सकते हैं। इस लिंगनुमा बनावट में भी बुद्ध की मूर्ति बनी है।

शैव सम्प्रदाय के प्रच्छन्न बोधिसत्त्व के मार्ग से एक और अलग बोधिसत्त्व हुए, जो आज वैष्णव सम्प्रदाय के संस्थापक के रूप में प्रसिद्ध हैं, जिनका नाम रामानुज है। इस मार्ग के अनुयायी विष्णु की अराधना करते हैं। वैसे पुरातात्विक उत्खनन में इस काल तक ऐसी कोई भी मूर्ति नहीं मिली है, जिस पर कि विष्णु नाम लिखा हो। आप सभी लोग स्पष्ट हो लें कि मैं किसी भी भाषा में विष्णु लिखा हुआ नाम की बात कर रहा हूं। फिर भी वैष्णव मार्गी जिस बनावट के विष्णु की मूर्ति को पूजते हैं, वैसे ही आकार की पुरातात्विक उत्खनन में कई मूर्तियां मिली हैं, जिसको आप लोग 'वैदिक युग के घालमेल' पुस्तक में देख सकते हैं। परन्तु गुप्तकालीन निर्मित एक ऐसी मूर्ति मिली है कि जिसको देख कर आप लोग भी दंग रह जाएंगे। यह मूर्ति उत्तर प्रदेश के ललितपुर जिले के देवगढ़ में दशावतार मंदिर में अवस्थित है। इस मूर्ति की बनावट में शेषनाग पर एक बोधिसत्त्व लेटा हुआ है, जो काफी शान्त और प्रसन्न मुद्रा में है, इस मूर्ति का पैर कोई महिला दबा रही है, मूर्ति के ऊपर सर्प फन फैलाए हुए है, लेकिन इस मूर्ति में सबसे बड़ी विचित्र बात यह है कि सांप पर लेटे हुए बोधिसत्त्व के बगल से एक कमल फूल निकला है जिस पर भगवान गौतम बुद्ध बैठे हैं। ऐसे इस प्रकार के बनावट वाले बोधिसत्त्व का कोई नाम लिखा हुआ अभिलेख आज तक नहीं मिला है। यह तो भ्रम का पुलिंदा और कलम कसाई की देन है कि ऐसे लेटे हुए बोधिसत्त्व की मूर्ति को विष्णु और पैर दबाती हुई महिला को लक्ष्मी का नाम देकर वैष्णव सम्प्रदाय का हिस्सा बना दिया



मथुरा शिव लिंग



विष्णु की मूर्ति

गया है। भ्रमवंशी ने बोधिसत्त्व का यह नामकरण कैसे किया, इस बात की जानकारी देने वाला कोई नहीं है।

सम्यक संस्कृति में देशना (पवरना, उपदेश, कुदरत के रीत का ज्ञान) देने हेतु भिक्खु-संघ होता था, जिसमें भिक्खु और भिक्खुनियां दोनों होते थे। वर्ष के बारह महीने में नौ महीना ये लोग हर गृहस्थों को देशना देते थे और तीन महीना अपने ज्ञान साधना को बढ़ाने हेतु खुद सामूहिक रूप से इकट्ठा होते थे। अब इन लोगों का यह तीन महीना आषाढ़ पूर्णिमा के बाद सावन, भादो, और आसिन का होता था। यह तीन महीना वर्षा का समय होने की वजह से इन भिक्खुओं के ध्यान साधना के समय को 'वर्षावास' (वस्सावास) नाम से जाना जाता था। चूंकि यह वर्षावास घटाटोप बरसात का समय होता था, इस वजह से यह सामूहिक साधना का स्थान भी ऊंचे स्थानों (पहाड़ों के ऊपर बनी कन्दराओं) में होता था। जहां ये लोग इकट्ठे होकर अपनी देशना के ज्ञान को और अपने विपश्यना साधना को पुष्ट करते थे। वर्षावास के अंतिम समय में अपनी ज्ञान साधना को खत्म करके पुनः गृहस्थों के बीच देशना देने हेतु जाने की तैयारी होने लगती थी। इसी तैयारी में वर्षावास के अन्तिम महीने आसिन के पहले पख में भिक्खु-संघ को अपनी साधना को परीक्षा द्वारा जांचना होता था, जिसे **पितु पख साधना** कहा जाता था। इस पख (अमास्या) के बाद जो दूसरा पख शुरू होता था, उसमें भिक्खुनी-संघ को अपनी साधना की परीक्षा देनी होती थी। अब यहां ध्यान देना है कि भिक्खुनी-संघों का नियम पुरुष भिक्खुओं से काफी ज्यादा होता है (विनय पिटक के अनुसार महिला भिक्खुनी का शील नियम 311 और पुरुष भिक्खु का शील नियम 227 हैं)। जिस वजह से भिक्खुनिओं की साधना परीक्षा काफी दुर्गम (पालि में दुग्गम) होती थी। इसी वजह से इस पख का नाम **दुर्गम मातु पख** था। उस समय इन दोनों साधना का नाम क्रमशः **पितु पख साधना** और **दुर्गम मातु साधना** था।

सम्यक काल के बाद जब सम्यक अंत काल का उदय होने लगा, तो इस **पितु पख साधना और दुर्गम मातु साधना** पर शाक्त सम्प्रदाय (वज्रयान से शैव सम्प्रदाय और उस शैव से वैष्णव, शाक्त सम्प्रदाय) ने अधिकार जमाया और मातु पख पर शाक्त सम्प्रदाय (वज्रयान से निकला मार्ग) ने अधिकार जमाया। उसके बाद इन दोनों ने इस साधना प्रक्रिया के नाम को गुणवाचक



दो हाथ वाली तारा की मूर्ति



दो हाथ वाली तारा की मूर्ति

साधना से बदलकर कर्मकाण्ड वाचक संज्ञा करते हुए नामों को संस्कारित करने का काम किया। इसी वजह से वैष्णव संप्रदाय ने सम्यक भाषा का नाम **पितु पख साधना** की जगह पर संस्कारित भाषा का नाम **पितृ पक्ष (साध) श्राध** का नाम दिया था। वही शाक्त संप्रदाय ने **दुग्गम मातु पख साधना** वाले नाम को संस्कारित करते हुए **दुर्गम मातृ पक्ष साधना** का नाम दिया जो बाद में वही दुर्गम मातृ साधना का स्वरूप **दुर्गा माता साधना** बनकर आज दिखता है। जहां जहां वैष्णव सम्प्रदाय का प्रभाव है, वहां यह पितृ पक्ष श्राध की परंपरा का कर्मकाण्ड आपको बहुतायत से देखने को मिलेगा। वहीं हिमालय पहाड़ (उत्तरी भारत का मैदानी भाग) के तराई क्षेत्रों में जहां जहां शाक्त सम्प्रदाय की जबरदस्त उपस्थिति है उन जगहों पर **दुर्गा माता साधना पक्ष** के कर्मकाण्ड की परंपरा बहुतायात से देखने को मिलेगी।

शाक्त परम्परा में पहली मूर्ति तारा देवी की मिली है। यह तारा देवी की मूर्ति बोधिसत्त्व की मूर्ति है, जिस मूर्ति के ऊपर में भगवान बुद्ध की मूर्ति बनी है। अब इस मूर्ति को देखकर भ्रम का पुलिंदा बनाने वालों की आवाज बन्द है।

लेकिन बिहार के शेखपुरा जिला सदर प्रखंड के पचना गांव में करोना काल के समय जमीन की खुदाई के दौरान तारा देवी की एक मूर्ति मिली है। इस मूर्ति की खास बात यह है कि यह पद्म (कमल) पर बैठी है और इसमें आठ हाथ बने हैं। दो हाथ साधना की मुद्रा में हैं, तो आठ हाथों में कोई न कोई वस्तु पकड़े हुई है। सबसे बड़ी बात है कि इस मूर्ति के ऊपर



तारा की मूर्ति आठ हाथ

में भगवान बुद्ध की मूर्ति बनी है। पुरातत्ववेत्ता के अनुसार यह मूर्ति पाल कालीन काले रंग की ग्रेनाइट पत्थर से बनी है, जिस पर की लिखावट में धम्म लिपि और स्थानीय लिपि (बंगला लिपि) का मिश्रित प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इस मूर्ति को नीचे चित्र में देख सकते हैं। यह आठ हाथ वाली मूर्ति का प्रत्यारोपण (Implant) आज दुर्गा के रूप में करते हुए भ्रम का जबरदस्त पुलिंदा बनाया गया है।

ऐसे आज तारा की मूर्ति जहां जहां है वैसे सभी स्थानों पर भ्रमवंशियों का कब्जा है और उस तारा देवी को अलौकिक शक्ति का भण्डार समझकर दुर्गम कर्मकाण्ड जो चल रहा था, उस दुर्गम शब्द को भी आज दुर्गा कर्मकाण्ड की परंपरा बनाकर अनाड़ी (अनार्य) लोग जमकर भिखमंगन भक्ति कर रहे हैं।

उत्खनन द्वारा पाल वंशीय तारा की काफी मूर्ति मिली है, जो आज काफी महत्त्वपूर्ण है। इन मूर्तियों की बनावट में आठ हाथ हैं और हर हाथ में कोई न कोई अस्त्र-शस्त्र विराज रहा है। सबसे मुख्य बात यह है कि इस मूर्ति को एक साधरण पुरुष के साथ युद्ध करते हुए दिखाया गया है। जिसको यह अपने हाथ में पकड़े त्रिशुल



दुर्गा की मूर्ति

से वार कर रही है। तारा की इस मूर्ति का एक पैर कुत्तेनुमा बने जानवर पर है तो दूसरा पैर सर कटे जानवर पर है। मूर्ति के सभी पात्रों को कलम आसन पर बैठाया गया है। इस बोधिसत्त्व की मूर्ति के ऊपर में भगवान बुद्ध की मूर्ति बनी थी जिसको भ्रमवंश का कोई धूर्त नायक ने तोड़कर हटा दिया है साथ ही दूसरी मूर्ति के ऊपर त्रिरत्न का चिह्न बना है जिसको आप लोग चित्र में देख सकते हैं। आज इसी मूर्ति को भ्रमवंशी के दुर्गा के स्वरूप में स्थापित किया जाता है, अन्तर सिर्फ इतना है कि आज वाली मूर्ति में बुद्ध की मूर्ति या त्रिरत्न को हमेशा के लिए हटा दिया गया है।

ईसा बाद सम्यक काल में आर्य महासांघिक संघ का प्रभाव काफी ज्यादा हो गया था। हर क्षेत्र के गृहस्थ लोग भगवान बुद्ध द्वारा बताये गये मार्ग आर्य आष्टागिंक मार्ग का पालन करते हुए पंच शीलों का पालन कर रहे थे। फिर भी कुछ मूढ़ (नासमझ) लोग इस अमृत रूपी शील से दूर थे, जो भगवान के बताये आष्टागिंक मार्ग को समझ नहीं पा रहे थे। अब जब वैसे लोग भगवान के मार्ग की बात को समझ ही नहीं पा रहे थे, तो उस मार्ग पर चलने का सवाल कैसा! जब आर्य मार्ग पर नहीं चलेंगे तो शील का पालन कैसे करेंगे!

इसी वजह से वैसे अनार्य (अनाड़ी) लोगों को शील का पालन कराने हेतु छोटी-छोटी कहानियों का निर्माण होने लगा था। उन कहानियों के माध्यम से अनाड़ियों को शील नहीं पालन करने पर काल्पनिक सजा पाने का डर, तो शील पालन करने पर काल्पनिक पुरस्कार पाने का लोभ जैसे समझाने की परम्परा चल निकली थी। जिससे उन अनार्यों में काफी बदलाव दिखने लगा था। अनार्यों में इसी परम्परा को बढ़ाने हेतु उस समय अरहत और बोधिसत्त्व ने मिलकर भिन्न-भिन्न प्रकार की कई काल्पनिक कथाओं का निर्माण किया, ताकि इस रास्ते से अनार्यों का भी कुछ भला हो। ऐसी कथाओं में भगवान बुद्ध के जन्म से पूर्व की जुड़ी हुई कई कहानियों का समावेश देखने को मिलेगा। इस वजह से आज कुछ लोगों को यह संदेह होता है कि क्या भगवान बुद्ध चमत्कारपूर्ण बातों को मानते थे? जबकि आज सबको मालूम है कि भगवान बुद्ध स्वयं चमत्कार की बातों से काफी दूर रहते थे। यह तो भगवान बुद्ध के महापरिनिब्बान के काफी समय बाद आर्य महासांघिक संघ के अरहत और बोधिसत्त्व लोगों ने अनार्यों के अन्दर शील का समावेश हो और ये लोग शील

का पालन करें, इस वजह से ऐसी कथाओं का प्रचलन किया गया था। ऐसी कथा के संग्रह का नाम जातक कथा है। इन कथाओं का संग्रह सुत्त-पिटक के खुद्दक निकाय के दसवें ग्रंथ में किया गया है। इसमें भिन्न-भिन्न प्रकार की 547 जातक कथाएं हैं। इन जातक कथाओं में कथा नम्बर 440 कण्ह जातक कथा, कथा नम्बर 454 वासुदेव जातक कथा, कथा नम्बर 461 दसरथ जातक कथा, कथा नम्बर 540 साम जातक कथा काफी रोचक हैं। इसमें से प्रत्येक जातक कथा अपने आप में रोचक है।

इसमें जो जातक कथा नम्बर 440 है और कथा नम्बर 454 है, यह कथा क्रमशः कण्ह जातक कथा और घत जातक कथा के नाम से है। कण्ह नाम को जब संस्कारित भाषा में उच्चारण करेंगे तो यह कृष्ण से सम्बोधित होगा। कृष्ण को काला भी कहा जाता है और काला को श्याम भी कहते हैं। इस वजह से कण्ह को श्याम भी कहा जाता है। अब इस कण्ह जातक कथा और घत जातक कथा के माध्यम से अनाड़ी (अनार्य) लोगों को समझाने का प्रयास किया गया है कि ज्यादा धन का लोभ नहीं करना चाहिए। अहंकार भी नहीं करना चाहिए। दोनों कथाओं को पढ़ लेंगे तो आप इन भ्रमवंशियों द्वारा भ्रम का पुलिंदा बनाते हुए गढ़ी गई कृष्ण और कंस की कहानी को समझ लेंगे।

कथानुसार कृष्ण को पढ़ने के लिए बाहर स्कूल भेजा जाता है और कुछ वर्षों के बाद कृष्ण जब पढ़कर घर आता है तो अपने घर के रखी पोथी में लिखा देखता है कि मेरे परदादा ने बहुत धन कमाया था, मेरे दादा ने भी बहुत धन कमाया था। यह पढ़कर वह सोचने लगा कि जिन्होंने इतना धन कमाया वह आज कहीं दिखाई नहीं दे रहा है। फिर इतना धन कमाने से उन्हें क्या लाभ मिला? वह धन भी अपने साथ नहीं ले गए, फिर इतना ज्यादा धन कमाने के पीछे भागना या धन की आसक्ति लगाना बेकार है। आलस्य और प्रमाद से कामचोर बनकर धनहीन होना भी बेकार है। हर गृहस्थ के पास आवश्यकता अनुसार धन होना चाहिए। धनहीन और धनवान बनकर बेचैन नहीं होना चाहिए।

घत जातक कथा के माध्यम से कंस के अहंकार को दिखाया गया है। कंस की बहन का नाम देवगर्भा था। कंस का राज पुरोहित भविष्यवाणी करता है कि देवगर्भा से उत्पन्न बच्चे द्वारा कंस की हत्या होगी। देवगर्भा की शादी

मथुरा के राज पुत्र से होती है। शादी होने के बाद कंस दोनों को बंदी बनाकर अपने किला के सामने खंभे वाले घर में रखता है और उसकी रखवाली हेतु दासी नंदगोपा और उसके पति अंधकवेणु को नियुक्त कर देता है।

एक दिन कंस को देवगर्भा के गर्भ ठहरने की खबर मिलती है, लेकिन उसने बहन की हत्या नहीं करते हुए सोचा कि भविष्यवाणी अनुसार उसका पुत्र मेरी हत्या करेगा, इस वजह से उसके गर्भ से जो पुत्र जन्म लेगा उसी पुत्र की हत्या कर दूंगा, लेकिन अगर पुत्री का जन्म होगा तो उसे जीवन दान दे दूंगा।

नौ महीने बाद देवगर्भा ने पुत्री को जन्म दिया। कंस ने देवगर्भा, उसके पति और बच्ची को वहां से हटाकर गोवड्ढमान भोग गांव (गोवर्धन गांव) में दासी सहित रख दिया। गोवड्ढमान गांव में रहते हुए देवगर्भा को फिर गर्भ ठहरा और उसी दिन दासी को गर्भ ठहरा। नौ महीने बाद देवगर्भा ने एक श्याम वर्ण के पुत्र और दासी ने पुत्री को जन्म दिया। पुत्र की हत्या के डर से दासी की पुत्री से देवगर्भा ने अपने पुत्र को बदल लिया और कंस को सूचना भिजवा दी कि फिर पुत्री का जन्म हुआ है। इस वजह से राजा कंस भी पुत्री का जन्म होना सुनकर संतुष्ट हो गया। आगे बड़ा होकर वही कृष्ण बनता है और कंस की हत्या करता है।

लेकिन आज इस कण्ह जातक और घत जातक कथा को कलम कसाई ने द्वापर युग में ले जाकर भ्रम-वंश का पुलिंदा बनाते हुए अपनी काल्पनिक सांस्कृतिक विरासत को स्थापित कर रखा है। अंग्रेजों के आने के बाद उत्खनन द्वारा सभी संस्कृति की पुरातात्विक सच्चाई सबको मालूम हुई, जिसकी वजह से आज द्वापर युग का सारा भाण्डा ही फूट गया। भ्रम भाटों ने यह सारा काल्पनिक युग का खेल बौद्धिक जातक कथा से चोरी करके लिखा है। इसी वजह से आज के तथाकथित भ्रमवंशी बुद्धिजीवी उत्खनन से मिले काल्पनिक चित्रों के द्वारा कहीं का ईंट और कहीं का रोड़ा के रूप से अपने वाले कृष्ण को स्थापित करने का षड्यंत्र करते रहते हैं।

जातक कथा नम्बर 461 का नाम है—दसरथ जातक कथा। यह जातक कथा भ्रमवंशी द्वारा प्रत्यारोपित की गयी रामायण का मूल सार है। इस कथा के मुख्य पात्र का नाम राम, लखन, भरत और सीता है, ये सभी आपस में भाई-बहन हैं। इस कथा द्वारा सम्यक काल में अनाड़ी लोगों को राग-मुक्त,

लोभ-मुक्त, द्वेष-मुक्त करने का चित्रण किया गया है। इस कथा के पात्रों का प्रचलन आज भी वज्रयान के बुद्ध विहारों में देखने को मिल जाएगा। लेकिन भ्रमवंश के कलम कसाई लेखक ने इस दसरथ जातक कथा को एक नये रूप में प्रत्यारोपण करते हुए आज उसे रामचरित मानस के नाम से काव्य पाठ कर दिया है। आज के अंधभक्त लोग इसी कहानी को सही मानकर पाषाण काल से भी पूर्व किसी दूसरे काल में इन पात्रों का जीवन खोज रहे हैं।

वहीं कलम कसाई की लेखनी को पढ़कर कुछ ऐसे लोग भी हैं जो रामायण का लेखन ईस्वी सन् से पूर्व पुष्यमित्र शुंग के काल में होना मानते हैं। जबकि पुरातत्व विभाग द्वारा पुष्यमित्र शुंग काल में जो भी लेखन मिला है, वह सभी का लेखन धम्म लिपि और पत्थर की शिलाओं पर है। फिर तो ऐसे लोगों के अनुसार आज पत्थर की शिलाओं पर धम्म लिपि में लिखी हुई रामायण मिलनी चाहिए थी! जबकि भ्रमवंश का प्रत्यारोपण (Implant) ही वज्रयान से निकले धूर्त मक्कार लुटेरा गिरोहों द्वारा हुआ है। उन लोगों ने धोखेबाजी से सम्यक काल को सम्यक अंतकाल यानी सामंत काल में प्रत्यारोपण (Implant) कर दिया है और अपनी परंपरा पर भ्रम का पुलिंदा बना दिया है। इस परंपरा का कोई भी पुरातात्विक साक्ष्य नहीं है।

आज पुरातत्व विज्ञान की जानकारी इतनी बढ़ गयी है कि किस शासक वंश के समय में उसके द्वारा किस लिपि में लेखन हुआ और उस शासक ने लेखन हेतु किस प्रकार की वस्तु (कागज, भोज-पत्र, ताड़-पत्र, ताम्र-पत्र, शिला-पट्ट) का प्रयोग किया, आज उन सभी बातों की जानकारी खुली किताब की तरह सबके सामने है। इस वजह से भ्रमवंश के तथाकथित लेखकों द्वारा लिखित ग्रंथों की सामग्री किसी ज्ञात व अज्ञात काल के लिखित अभिलेख से मेल नहीं खाती है। इस वजह से आज के कलम कसाई लेखक अभिलेख की खोज को छोड़कर उत्खनन से मिले सांकेतिक चिह्नों से अपने भ्रमवंश के कथा पात्रों का तारतम्य बिठाने में लग गए हैं और इन्हीं सब कारणों से इन सभी की मूढ़ता पर हंसी आती है कि जैसे किसी अबोध बालक के हाथ में जब कोई पुस्तक दी जाती है तो वह बालक उस पुस्तक के अन्दर लिखी बात को नहीं देखकर, उस पुस्तक के अन्दर बनी फोटो पर ही ज्यादा ध्यान देता है। आज भ्रमवंश के अन्दर तथाकथित रूप से बने विद्वानों की भी स्थिति कुछ वैसे ही अबोध बालक के सामान बनी हुई है।

ये लोग उत्खनन से मिले लिखित अभिलेखों को नहीं पढ़कर, उत्खनन में मिले चिह्नों में ही भ्रमवंश के पात्रों को खोज रहे हैं।

आज के समय में सामाजिक तौर पर बार-बार यही प्रश्न उठता है कि जब सम्यक संस्कृति पाल वंश तक निरन्तर स्थापित रही, जैसा कि ऊपर में उत्खनन से प्राप्त सभी शासकों का लिखित अभिलेख पढ़ा व देखा, उत्खनन से प्राप्त भारत का शिक्षण संस्थान का साक्ष्य कहता है, जैसा कि विदेशी यात्री इत्सिंग, फाहियान, ह्वेनसांग का यात्रा वृतांत कहता है, तो फिर अचानक से पाल वंश के बाद सम्यक संस्कृति को नष्ट करने वाले कौन लोग आ गये? यह कहां के रहने वाले थे? आखिर इन सभी का उद्देश्य क्या था?

वस्तुतः पाल वंश के समय से ही वज्रयान सांघिक संघ का निर्माण हो गया था, जिसका परिणाम वज्रयान के बोधिसत्त्वों में तंत्र, मंत्र और सिद्धी-साधना की प्रधानता बढ़ती जा रही थी। इसी का परिणाम है कि सम्यक संस्कृति वाली मूल आष्टांगिक मार्ग के जगह पर बोधिसत्त्वों द्वारा तंत्र-मंत्र, सिद्धी-साधना वाले चामात्कारिक मार्गों का प्रचलन चल निकला था। प्रत्येक बोधिसत्त्व का चमात्कार भी भिन्न-भिन्न होता था, जिस वजह से सभी के बीच में मतभिन्नता और स्वार्थवादिता बढ़ने लगी। आगे इन्हीं स्वार्थी शाक्तयान, तंत्रयान, मंत्रयान बोधिसत्त्व के द्वारा पूर्व की सम्यक संस्कृति के स्वरूप को बदलते हुए वज्रयान से निकला विभिन्न नामों वाला पंथ को स्थापित किया गया है। जिसको आज हम लोग ब्रह्मयान या वैदिक सनातनी हिन्दू के नाम से जानते हैं।

इन बातों पर कुछ लोगों की राजनीतिक मत भिन्नता हो सकती है, लेकिन पुरातात्विक मतभिन्नता नहीं हो सकती है। क्योंकि ईसा पूर्व 600 वर्ष के पूर्व का दर्शनीय पुरातात्विक साक्ष्य है और ईसा पूर्व 600 वर्ष के अन्दर का लिखित व पठनीय पुरातात्विक अभिलेख है। अब इन दोनों साक्ष्यों के अनुसार कोई किसी को कहीं कैसे बैठा सकता है!

आज ज्ञात काल के प्रत्येक शासक का लिखित व पठनीय अभिलेख और दर्शनीय स्थल देखने के बाद यह प्रमाणित हो चुका है कि आठवीं शताब्दी से पूर्व का सारा कुछ साक्ष्य सम्यक काल का ही था। तुम भ्रमवंशियों का उद्भव ही धूर्तता और धोखेबाजी की वजह से नौवीं-दसवीं शताब्दी के

बाद से होना निश्चित हुआ है। इसी वजह से सम्यक काल के वज्रयानी अनुयायियों के जातक कथा का उपयोग तुम भ्रमवंशी लोग अपने ग्रंथों के माध्यम से कर रहे हो।

भाषा और लिपि का क्रमिक विकास

जिस प्रकार से मानव का क्रमिक विकास (डार्विन का सिद्धांत) हुआ है उसी प्रकार मानव सभ्यता और मानव संस्कृति का क्रमिक विकास हुआ है। अब जब मानव का क्रमिक विकास हुआ है तो उसकी भाषा और लिपि का भी क्रमिक विकास हुआ है। मानव सभ्यता का पहला साक्ष्य पाषाण काल में मिला, लेकिन उस सभ्यता की किसी भी भाषा-लिपि का साक्ष्य प्राप्त नहीं हुआ है। पाषाण काल के बाद की सभ्यता सिन्धु घाटी की सभ्यता मिली है, उस सभ्यता की भी क्या भाषा थी, वह किसी को नहीं पता है। लेकिन उस सभ्यता की लिपि क्या थी वह आज सभी को पता है, जो पठनीय नहीं होने की वजह से पढ़ी नहीं गयी है। इस वजह से उस समय की जानकारी आज किसी को नहीं है।

ऐतिहासिक काल में जो सभ्यता और संस्कृति मिली है उस सभ्यता की लिपि पठनीय है और इस वजह से पता चलता है कि वह सभ्यता सम्यक संस्कृति की थी। सम्यक संस्कृति के समय यहां की भाषा प्राकृत/पालि और लिपि का नाम धम्म लिपि (साहित्यिक नाम ब्राह्मी लिपि) था, लेकिन सम्यक संस्कृति के समय कुछ विदेशी शासकों का भी यहां आना हुआ था, जो सम्यक संस्कृति में दूध और पानी के समान विलीन हो गये थे। वैसे विदेशी शासकों के वंशजों को आज खोजना पानी में दूध खोजने के सामान ही कहा जा सकता है। वे सभी विदेशी शासक जब यहां की सत्ता-व्यवस्था पर बैठे थे तो यहां की सम्यक पालि/प्राकृत भाषा को कुछ नये शब्द दिए थे। ऐसा होना एक स्वाभाविक क्रिया भी माना जाता है। जैसे कोई व्यक्ति है, जो उत्तर भारत की हिन्दी भाषा बोलने वाला है और वह दक्षिण भारत के किसी गैर-हिन्दी भाषी वाले क्षेत्रों में किसी बड़ी कम्पनी का प्रबन्धक बन जाता है। उसके बाद उस कम्पनी में काम करने वाले हजारों कर्मचारी प्रबन्धक के साथ सम्पर्क में आ जाते हैं, जिससे हिन्दी भाषी प्रबन्धक और गैर-हिन्दी भाषी क्षेत्र के हजारों कर्मचारियों के बीच निरन्तर वार्तालाप जारी

हो जाता है। अब बहुसंख्यक कर्मचारियों की भाषा का सबसे ज्यादा प्रभाव अकेला प्रबन्धक पर पड़ता है तो अकेला प्रबन्धक भी सभी कर्मचारियों को बार-बार मार्गदर्शन देने के कारण उसकी भाषा द्वारा कुछ प्रभाव सभी कर्मचारियों पर भी पड़ता है। यह एक सामान्य क्रिया व प्रतिक्रिया है। आज भ्रमवंशी लेखक उन्हीं नए शब्दों को पकड़ कर संस्कृत बनाने पर तुले हुए हैं, जो किसी भी दृष्टिकोण से उपयुक्त नहीं है।

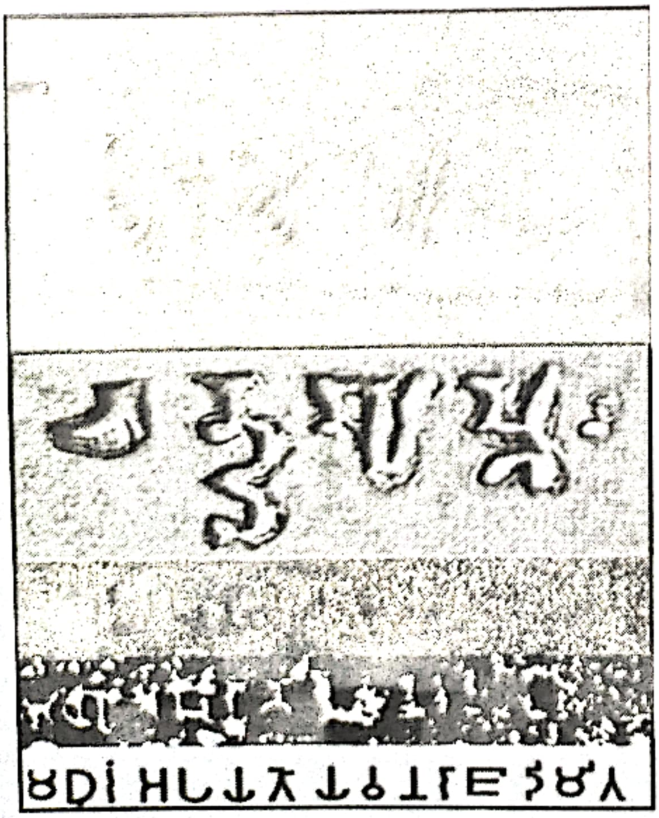
आज भ्रमवंशीय कलम कसाई लेखकों द्वारा पुस्तकों के माध्यम से यह बताया जा रहा है कि रुद्रदमन के बाद बाह्मी लिपि में जितने अभिलेख लिखे गए हैं उनमें कुछ शब्द पिजिन के हैं इस वजह से वे सभी अभिलेख पिजिन संस्कृत के हैं। धुर्तों द्वारा शब्दों की ऐसी व्याख्या की जाती है कि साधारण लोग दिग्भ्रमित हो ही जाते हैं। पिजिन का अर्थ मिश्रित होता है। संक्रमित का अर्थ मिश्रित होता है। अब यहां ध्यान दिया जाए कि पालि का शब्द झान, बोध जैसा कई शब्द पड़ोसी देशों में पिजिन (मिश्रित) होकर आज भी प्रचलित हैं। फिर तो इस उदाहरण के अनुसार पड़ोसी देशों की भाषा को भी आज पिजिन संस्कृत कहना उपयुक्त होगा? क्यों सही बोला न!

उसी प्रकार भारत की भाषा के लिट्टी-चोखा जैसे कई शब्द यूरोपीय देशों में पिजिन (मिश्रित) हुए हैं, फिर यूरोप की भाषा को भी पिजिन संस्कृत कहना कहां तक उपयुक्त होगा, वह आप लोग स्वयं तय करें!

किसी देश का कोई शब्द किसी देश की भाषा में पिजिन/संक्रमित (मिश्रित) हो सकता है, लेकिन उस पिजिन शब्द के आधार पर वह कोई भाषा का स्वरूप ले ले यह कहना सरा-सर गलत है। यह बात भ्रमवंशी ही कह सकता है, क्योंकि उसको तो अपने काल्पनिक पूर्वजों को पूर्वकालिक स्थापित जो करना है। इस वजह से वह मौके की ताक में रहता है और जहां मौका मिलता है वहां पर अपने पुरखों को स्थापित करने हेतु कुछ भी गपोड़ देता है। ऐसी गपोड़ता पर सजग और सचेत रहना होगा, क्योंकि एक समय यूरोपीय साम्राज्य का समूचे पृथ्वी पर शासन था। जिस वजह से यूरोप की भाषा के बहुत सारे शब्दों का संक्रमण (पिजिन/मिश्रण) विश्व के कई देशों की मुख्य भाषा में या क्षेत्रिय भाषा में भी हुआ था। जैसे टिकट, ट्रेन, शर्ट, पैंट, लिपिस्टिक, ग्लास इत्यादि। फिर इन शब्दों के पिजिन (मिश्रण) होने से उन सभी देश की भाषा को आज संस्कृत कहना कितना उपयुक्त मानना चाहिए?

इसको इस प्रकार से भी देख व समझ सकते हैं। विभिन्न प्रकार के भाषाई लोग जब आपस में एक साथ वार्तालाप करते हैं तो उन सभी की बोली-भाषा-स्वर (टोन) का आपस में संक्रमण होता है, जिस वजह से उन सभी की बोली-भाषा का संक्रमण होकर एक नई संक्रमित भाषा-स्वर का उदय होता है। अब क्या इस नई भाषा-स्वर को संस्कृत कहेंगे! जैसे उदाहरण द्वारा समझे—मुम्बई शहर में विभिन्न प्रदेशों के भाषा-बोली बोलने वाले लोगों का रहना होता है। जिस वजह से उन सभी लोगों की बोली-भाषा संक्रमित होकर मराठी से अलग मुम्बई की भाषा बन गई है। अब क्या मुम्बई की बम्बईया बोली को संस्कृत बोलेंगे, यह पाठकगण स्वयं तय करें? उसी प्रकार गुलाम वंश से लेकर ब्रिटिश साम्राज्य तक विदेशी शासक लोगों का यहां आना हुआ है और उन शासकों के आने के बाद सभी की बोली-भाषा यहां संक्रमित होकर एक नई संक्रमित भाषा (उर्दू, हिंग्लिस) बनी है। अब इस भाषा को क्या नाम देंगे, वह आप लोग स्वयं तय करें?

उसी प्रकार पूर्व के भारत में भी शक, कुषाण, पहलव, हूण जैसे विदेशी शासक या अन्य लोग भारतीय भूभाग पर आए और यहां आकर प्रमुख पदों पर आसीन भी रहे, जिसके परिणामस्वरूप उन सभी की बोली-भाषा और यहां की बोली-भाषा का निश्चित ही संक्रमण हुआ है, लेकिन उस संक्रमित भाषा को संस्कृत भाषा कहना किस दृष्टिकोण से उपयुक्त होगा,



यह आप लोग तय करें? संस्कृत का अर्थ ही होता है संस्कारित करके पुराने शब्दों का नया स्वरूप बनाना, जैसे पूर्व के पालि नाम **वेकमादतय** (𑀯𑁂𑀓𑀫𑀸𑀤𑀢𑀬), **चदगुपत** (𑀘𑀤𑀕𑀼𑀧𑀢), **दिमित** (𑀤𑀺𑀫𑀺𑀢) को संस्कारित करते हुए विक्रमादित्य, चंद्रगुप्त, दिमित्र जैसा शब्द नाम बनाना। अब यहां जो वेकमादतय देख रहें हैं यह पूर्व का पालि नाम है, लेकिन उसी वेकमादतय को संस्कारित करके विक्रमादित्य बना

दिये तो यह नाम संस्कृत का बन गया। इसको संक्रमण नहीं कहकर संस्कार करना यानी संस्कृत बनना कहते हैं, जिसको आप चित्र में देख सकतें हैं।

ऐसा इसलिए कह रहा हूं, क्योंकि सम्यक संस्कृति के बाद जब भ्रमिक संस्कृति का रूपांतरण होता है तो उसके बाद भी भारत के कई क्षेत्रों पर कई विदेशी शासकों का आगमन होता है, जो आज भी भारत की ब्राह्मणी संस्कृति में तेल और पानी की तरह अलग है, यानी घुलता नहीं है। जिसे आज कोई भी आसानी से पहचान सकता है। ये सभी विदेशी शासक जब भारत की सत्ता-व्यवस्था पर बैठे थे तो उस समय के सभी क्षेत्रीय भाषा सहित हिंदी/संस्कृत भाषा को भी बहुत कुछ नए विदेशी शब्द दिए थे। जो आज हिंदी/संस्कृत सहित सभी क्षेत्रीय भाषा में विलीन हो गए हैं। अब आज की भाषा में वैसे उर्दू, फारसी, तुर्क, पुर्तगाली, अफगानी, मुगलई और अंग्रेजी जैसी भाषाओं के कुछ शब्दों के मिलने पर इसको कौन सी भाषा का नाम देना पसन्द करेंगे भ्रमवंशी महोदय? भ्रम का पुलिंदा कुछ अपने लिए भी बनाएं!

जैसेः- कागज, सफेद, चूड़ी, जलेबी, टिकट, पेंट, काबुली, पैजामा, लिपिस्टिक, ग्लास................ आदि।

अब इन शब्दों को देखकर क्या कहेंगे कि हिंदी/संस्कृत जैसे शब्द उर्दू, फारसी, तुर्क, पुर्तगाली, अफगानी, मुगलई और अंग्रेजी में भी लिखे हुए हैं? कदापि नहीं! हां, इसे यह कह सकते हैं कि गुलाम वंश के बाद खिलजी, मुगल और अंग्रेजी शासकों के आने और लम्बे समय तक सत्ता-व्यवस्था में बने रहने की वजह से यहां की हिंदी/संस्कृत जैसी भाषा में कुछ विदेशी शब्दों का संक्रमण हुआ था, उसी के जैसा पूर्व काल में भी विदेशी शासकों के सत्ता में रहने की वजह से पालि/प्राकृत जैसी शुद्ध कुदरती भाषा में भी कुछ विदेशी शब्दों का प्रभाव पड़ा था, लेकिन उसने अपने शुद्ध स्वरूप को खोया नहीं था। वह कुदरत के मूल से निकली हुई भाषा है, जबकि संस्कृत का मूल ही संक्रमण से बना है। संस्कृत का अर्थ ही होता है किसी संस्कार द्वारा बनने वाली भाषा, यानी संस्कारित होना! कोई संस्कारित तब होता है, जब वह बाहरी ज्ञान से संक्रमित होता है! लेकिन प्राकृत भाषा का अर्थ ही है कि कुदरत के गोद से निकलने वाली भाषा, जिसे लोगों ने पाला, पोसा और बड़ा किया इसलिए इसे पालि भाषा भी कहते हैं।

सम्यक संस्कृति में मौर्य काल तक की जो भाषा-लिपि है वह बिल्कुल ही अपने शुद्ध स्वरूप में थी।' उस समय तक कोई भी बाहर की भाषा लिपि का संक्रमण नहीं हुआ था। सबसे पहला विदेशी शासक क्रमशः शक, कुषाण, के आने के बाद से ही सम्यक संस्कृति में प्रचलित पालि भाषा और धम्म लिपि में थोड़ा बाहरी ध्वनि और कुछ व्यंजन का संक्रमण मिलता है। फिर भी सम्यक संस्कृति की पालि भाषा और धम्म लिपि अपना स्वरूप नहीं खोई थी।

आज कुछ लोगों द्वारा दावा किया जाता है कि शक शासकों द्वारा लिखा गया जूनागढ़ अभिलेख 'संस्कृत' भाषा में है। ऐसी जानकारी मिलने से आज के कई पाठक दिग्भ्रमित हो जाते हैं। सही बात है, लोग दिग्भ्रमित क्यों नहीं होंगे! आखिर कोई जानकार लेखक जो लिख रहा है। लेकिन वह जानकार लेखक कलम कसाई है, यह थोड़े ही किसी को मालूम है। वास्तविकता यह है कि संस्कृत भाषा का कोई लेख जब भी लिखा जायेगा तो वह नागरी लिपि में ही लिखा जायेगा, नहीं तो वह संस्कृत का प्रारूप नहीं बन सकता है। संस्कृत लिखने के लिए **हलन्त, विशर्ग, चन्द्रबिन्दु** का होना अति आवश्यक होता है, क्योंकि इसके बिना संस्कृत लिखा ही नहीं जा सकता है। साथ ही संस्कृत की वर्णमाला में धम्म लिपि (ब्राह्मी लिपि) के स्वर-व्यंजन से कुछ अधिक स्वर-व्यंजन की आवश्यकता होती है। अब कोई बताये कि जूनागढ़ अभिलेख में **हलन्त, विशर्ग, चन्द्रबिन्दु** के साथ संस्कृत में पाए जाने वाले स्वर-व्यंजन हैं?

नोट—धम्म लिपि (ब्राह्मी लिपि) द्वारा लिखित पालि भाषा और नागरी लिपि द्वारा लिखित संस्कृत भाषा में अन्तर समझने से पूर्व इन दोनों की लिपि की वर्णमाला और शब्दों को उच्चारण करते समय उससे निकलने वाली अंतिम ध्वनि की आवाज कैसी होती है, इसको समझना होगा।

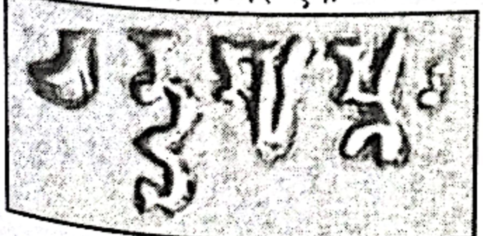
पुरातात्विक रूप से धम्म लिपि की जो वर्णमाला प्राप्त है, उस वर्णमाला के स्वर में अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ और निग्गिहित के रूप में अं (अड्ग) की मात्रा है। जिस वजह से धम्म लिपि के द्वारा लिखित शब्द के अंत में इन्हीं स्वर और निग्गिहित का प्रयोग होता है। अब जिस लिपि में वैसे शब्दों का प्रयोग होगा, तो वैसे शब्द को पढ़ते समय उसके उच्चारण में अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ और अड्ग की ध्वनि ही निकलेगी, और ये सारी ध्वनि अपनी संपूर्णता के साथ आवाज निकालती है।

जबकि नागरी लिपि की जो वर्णमाला है, उस वर्णमाला के स्वर में अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ऋ, ओ, औ, अं, अः है। इस वजह से नागरी लिपि द्वारा लिखित शब्द के अंत में इन्हीं स्वरों का प्रयोग होता है। अब यहां ध्यान देना होगा कि ऋ, अं और अः का प्रयोग जिन शब्दों के साथ अंत में होता है, उन शब्दों की अन्तिम वर्णमाला की ध्वनि अपनी संपूर्णता को खोते हुए अ को विलुप्त कर देती है, जिस वजह से शब्द की अन्तिम वर्णमाला की ध्वनि अपने अधूरे स्वरूप में निकलती है। नागरी लिपि के लेखन में अधूरे स्वरूप का प्रचलन सिर्फ इन स्वर के साथ ही नहीं वरण व्यंजन के साथ भी उपयोग किया जाता है। जिस कारण से नागरी लिपि के लेखन में हलन्त (्) का प्रयोग किया जाता है। हलन्त का प्रयोग शब्द के अन्तिम व्यंजन में किया जाता है, जिससे अन्तिम शब्द के उच्चारण में भी अ की ध्वनि विलुप्त हो जाती है। यानी उस व्यंजन का उच्चारण भी अपूर्ण हो जाता है।

संस्कृत भाषा को लिखने हेतु अपूर्ण स्वर और अपूर्ण व्यंजन की बहुतायत में आवश्यकता होती है, जिसकी पूर्ति सिर्फ नागरी लिपि ही करती है। धम्म लिपि द्वारा लिखित एक भी शब्द का अन्तिम स्वर और व्यंजन अपूर्ण रूप से उच्चारित नहीं किया जाता है और न ही लिखा जाता है। जिस वजह से धम्म लिपि द्वारा लिखित किसी भी अभिलेख को संस्कृत कहना भ्रम का पुलिंदा बनाना है।



चित्र नम्बर एक



चित्र नम्बर दो

चित्र नम्बर एक में जो पालि में समुदगुपत (𑀲𑀫𑀼𑀕𑀼𑀧𑀢 :) नाम लिखा हुआ नाम दिख रहा है उसका हिन्दी अनुवाद समुद्रगुप्त होता है। उस पालि नाम लिखावट के बाद आपको आज का दो बिन्दी वाला चिह्न दिख रहा है। उस बिन्दी को आज की भाषा में विसर्ग (:) कहा जाता है। लेकिन वस्तुतः पालि भाषा में उस चिह्न का अर्थ पूर्णविराम होता है। आज की हिन्दी भाषा में पूर्णविराम का चिह्न इस प्रकार का (।) है। लेकिन उस काल में पालि भाषा में इस प्रकार होता

था- (:) और पालि भाषा में 'र' का लेखन आज के पूर्णविराम (।) जैसा होता था। इस तरह का उदाहरण चित्र नम्बर दो में चदगुपत (𑀘𑀤𑀕𑀼𑀧𑀢 :) में देखने को मिलता है।

पूरे विश्व में नागरी लिपि ही है जिसके द्वारा संस्कृत भाषा का लेखन संभव हो पाया है, ऐसे जोड़-तोड़ और मजबूरी में तो अब रोमन लिपि में भी संस्कृत लिखा हुआ मिलेगा, लेकिन क्या उसको पढ़ने से वह संस्कृत भाषा की सम्पूर्ण ध्वनि का रूप ले पता है?

बिल्कुल नहीं!

फिर उस धम्म लिपि में लिखे जूनागढ़ अभिलेख को संस्कृत होने का खोखला दावा क्यों किया जा रहा है?



यवन, शक और कुषाण के अभिलेख

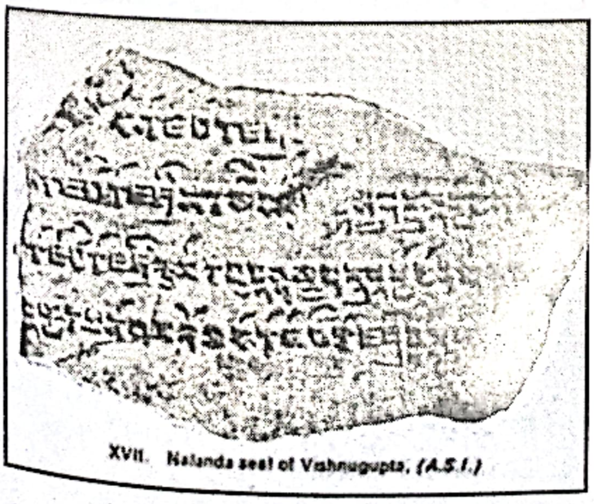
सच्चाई यह है कि शक शासक द्वारा जूनागढ़ अभिलेख धम्म लिपि में लिखा गया था। आज थोड़े बहुत जानकर लोगों को भी पता है कि धम्म लिपि की वर्णमाला में हलन्त, विशर्ग, चन्द्रबिन्दु सहित नागरी लिपि वाले स्वर ऋ, औ और श, ष, क्ष, त्र, ज्ञ जैसे व्यंजन नहीं हैं, जो कि संस्कृत भाषा के लेखन में सबसे ज्यादा महत्त्व रखते हैं। फिर भ्रमवादी लेखक समूह के लोगों द्वारा जूनागढ़ अभिलेख को या किसी भी काल में लिखित धम्म लिपि के अभिलेख को संस्कृत भाषा का अभिलेख कह कर लोगों को दिग्भ्रमित करना कितना सही है? फिर ऐसे तथाकथित लेखकों को कलम कसाई की उपाधि देना किसी भी दृष्टिकोण से गलत नहीं होगा!

आज शक और कुषाण सहित अन्य यवन शासकों द्वारा लिखित अभिलेख को कोई भी देख सकता है।

इसके बाद भ्रमवंशियों द्वारा भाषा का दुष्प्रचार गुप्त काल के बारे में भी हमेशा किया जाता है कि गुप्त काल की भाषा संस्कृत थी। पुनः मैं कह

रहा हूं कि संस्कृत लेखन का कार्य किसी भी लिपि द्वारा तभी संभव होगा जब उस लिपि की वर्णमाला में चन्द्रबिन्दु, हलन्त, विशर्ग होगा! अगर ऐसा निशान नहीं होगा तो समझें कि उस लिपि द्वारा संस्कृत लिखा हुआ नहीं है, बल्कि संस्कृत के नाम पर धोखा है। मौर्य काल की सम्यक भाषा-लिपि में कुछ स्वर और व्यंजन नहीं था, लेकिन गुप्त काल तक में भाषा-लिपि के विकास क्रम में उसका निर्माण हो गया था (श और ष)। फिर भी गुप्त काल में संस्कृत भाषा का निर्माण नहीं हुआ था।

संस्कृत लिखने हेतु नागरी लिपि की आवश्यकता होती है। गुप्त काल के समय कई शिक्षण संस्थान शिक्षा के उच्चतम शिखर पर थे, जिसमें भाषा-लिपि सहित धर्म और अध्यात्म पर शोध होता रहता था। उस समय तक देश की भाषा-लिपि का भी काफी विकास हो गया था। उसी भाषा लिपि विकास क्रम का पहला साक्ष्य नौवीं शताब्दी के आस-पास में नालन्दा विश्वविद्यालय के प्रांगण से खुदाई में गुप्त काल, वर्धन काल, और पाल वंश के समय का बना **मिट्टी का सील** मिला है। गुप्त काल की सील पर लिखित लिपि **धम्म लिपि** है, लेकिन लिपि के विकास क्रम में उस लिपि की लिखावट थोड़ी घुमावदार हो गयी है। दूसरी जो सील मिली है वह सील नौवीं शताब्दी के आस-पास की है, परन्तु उसकी लिखावट नागरी लिपि की है। लेकिन यह नागरी लिपि का व्यंजन अभी अपने पूर्ण स्वरूप में नहीं आया था। आप लोग भी इस स्वरूप को देख सकते हैं। इस सील में लिखा है **"श्री नालन्दा महाविहार"**, लेकिन इसमें **ह** वर्णमाला का जिस रूप में उपयोग किया गया है वह अभी भी धम्म लिपि वाली वर्णमाला की लिखावट (ᒐ) के मूल

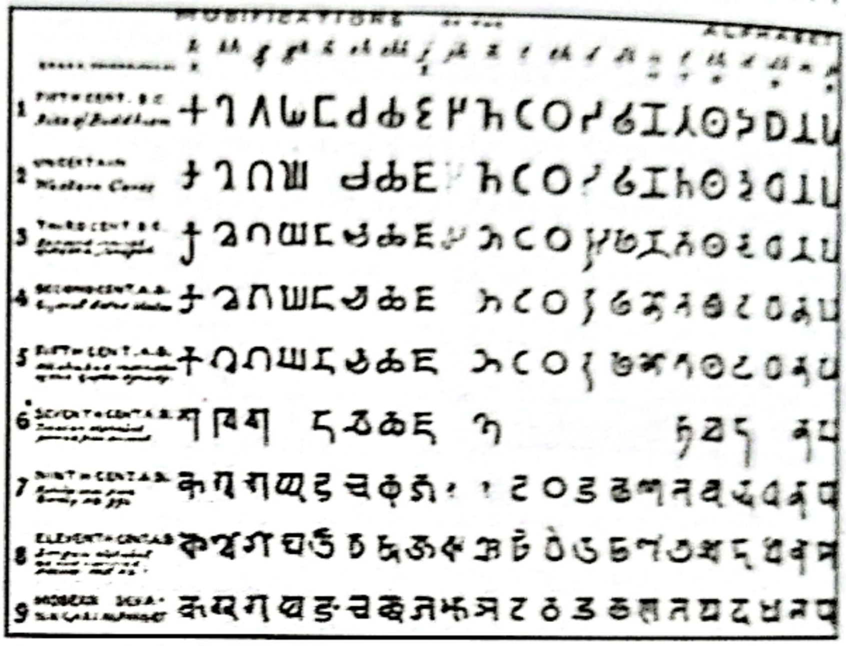




नालन्दा का धम्म लिपि और देवनागरी लिपि का सील

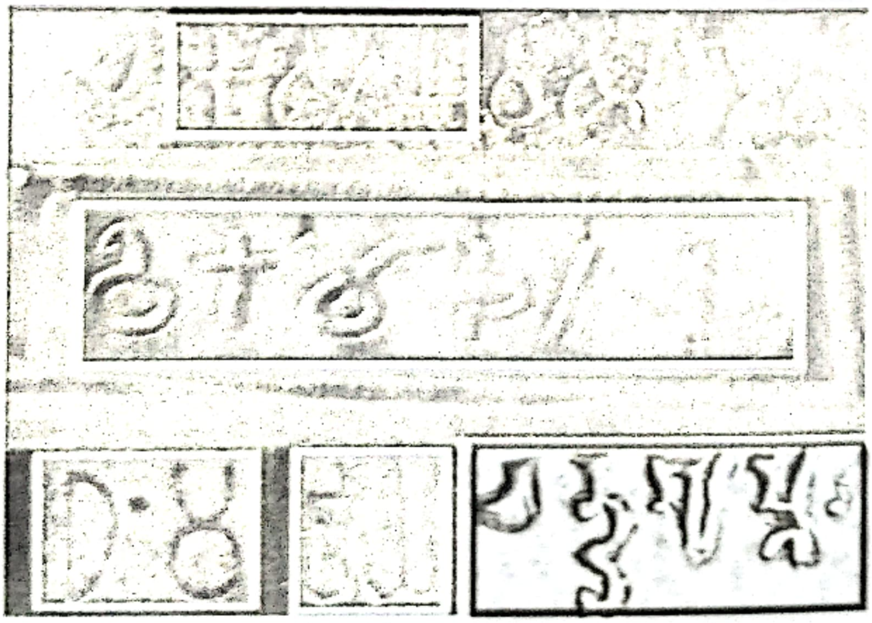
स्वरूप में ही है। इसका अर्थ है कि धम्म लिपि से नागरी लिपि के रूपांतरण का कार्य-क्रम अभी तक जारी था। फिर भी भ्रमवंशी समुदाय के तथाकथित विद्वान लेखकगण बिना नागरी लिपि से बने संस्कृत भाषा को गुप्त काल या उससे पूर्व काल में दिखाते हुए भ्रम का पुलिंदा बनाने लगते हैं।

ऐतिहासिक काल के उत्खनन से प्राप्त सभी लेखों को पढ़ने का काम अंग्रेजी विद्वान जेम्स प्रिन्सेप ने किया था। उन्होंने भाषा के साथ-साथ धम्म लिपि की वर्णमाला के विकास की भी बेहतर तालिका बनाएं थी, जिसे मैं आपके बीच रख रहा हूं।



जेम्स प्रिंसेप का चार्ट

वैसे आजकल काफी लोग हैं, जो पाल वंश से पूर्व संस्कृत भाषा के जन्म की बात बताते हैं। वैसे लोगों को एक बात बताना चाहता हूं कि बिना नागरी लिपि के संस्कृत भाषा वाले शब्द नाम का लिखा जाना सम्भव नहीं है। अतः ग्रंथों के श्लोक तो और भी दूर की कौड़ी थे। जैसे "कृष्ण, विक्रमादित्य, धर्म, प्रिय, चंद्रगुप्त जैसों शब्दों की जगह पर पाल वंश से पूर्व कसन (+ʎ⊥), वेकमादतय (˙δ + ૪ ↄ ʌ⊥), धम्म (D૪), पिय (ᒪ⊥), चदगुपत (ɷΛᒪʌ) लिखा जाता था, जिसका प्रमाण भी दे रहा हूं।



कसन, वेकमादतय, धम्म, पिय, अभिलेख

फिर भी किसी को लगता है कि धम्म लिपि द्वारा संस्कृत लिखा जा सकता है तो इस शब्द को धम्म लिपि द्वारा लिखा जाए—संस्कृत, श्री, लक्ष्मी, ऊं भूर्भवः, त्र्यम्बकं, पुष्टिवर्धनम्, यज्ञः, ऋषि, शाम।

भ्रमिक समुदाय के तथाकथित विद्वान लेखक महोदय, जब नागरी लिपि के बिना इतना छोटा नाम भी नहीं लिखा जा सकता है तो फिर आप लोगों द्वारा प्रचारित श्रुत ग्रन्थों के छंद, श्लोक की वाणी कैसे बोली जाती होगी? इस बात को प्रचारित करके सही में आप लोग कलम कसाई का काम कर रहे हैं। अगर कलम कसाई नहीं हैं तो एक दो छंद श्लोक का अभिलेख क्यों नहीं दिखाते हैं? इसी वजह से मैं सलाह दे रहा हूं कि भ्रमिक वर्ग के कलम कसाई आप लोग **'अभिलेख की खोज'** नामक एक पुस्तक के साथ-साथ धरावाहिक बनाओ, जिसमें आप लोगों के अनुसार भ्रमिक सभ्यता के अनुयायी शासक, जो पाल वंश से पूर्व के समय भ्रमिक पात्रों के बड़े-बड़े मंदिर बनवाए हों, तथा भ्रमिक सभ्यता के ग्रंथ लिखवाए हों, उन्हें सार्वजनिक तौर पर दिखाया जाए। ऐसे ही गाल बजाकर भ्रम का पुलिंदा कितने दिन बनाओगे?

आज भ्रमवंशियों द्वारा तैयार पुस्तक, जो भ्रम के पुलिंदे की मोटी गठरी है, के अनुसार बारवीं शताब्दी में एक मुस्लिम आक्रांता आता है और उस आक्रांता के द्वारा चुन-चुन सिर्फ सम्यक संस्कृति के बौद्ध विरासत स्थल और बौद्ध साहित्य को नष्ट होना या आग के हवाले बताया जाता है, लेकिन आठवीं शताब्दी के बाद से आदि शंकर, जैमिनी, कुमारील भट्ट, रामानुजाचार्य जैसे लोगों द्वारा स्थापित आराध्य स्थल व लिखित दर्शन वाले ग्रंथों को उस आक्रांता ने छुआ तक नहीं! आखिर यह विश्व का सातवां आश्चर्य कैसे हो गया! क्या मुस्लिम आक्रांता व इन स्वार्थी धूर्त लोगों के बीच कोई गुप्त समझौता हुआ था? इस प्रश्नों पर भ्रम वंशी कलम कसाई चुप क्यों हो जाते हैं।

क्यों सही कहा न, कलम कसाई महोदय!

सम्यक संस्कृति के शब्द व भाव का अपहरण

सम्यक संस्कृति के समय पालि भाषा का उपयोग होता था, जिस वजह से हर शब्द का भावार्थ भी पालि शब्दकोश के अनुसार निकलता था। सम्यक संस्कृति में आज का कोई भी शब्द अदृश्य, अलौकिक और

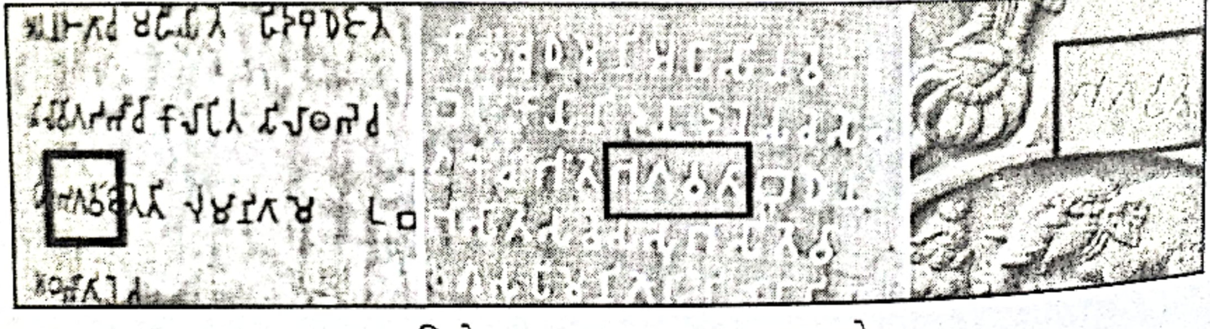
चमत्कार का प्रतिनिधित्व नहीं करता था। आज के वैसे शब्द उस समय में अपनी विशिष्ठता और गुणवत्ता की वजह से गुणवाचक स्वरूप में जाने जाते थे, जिस वजह से वैसे सभी शब्दों का प्रयोग सम्यक संस्कृति के समय गुणवाचक संज्ञा द्वारा उपाधि के तौर पर प्रयोग होता था। लेकिन जैसे ही धूर्त भ्रमवंशियों ने सम्यक संस्कृति का रूपांतरण किया, वैसे ही सबसे पहले पूर्व की पालि भाषा को संस्कारित करते हुए एक नई भाषा 'संस्कृत' और पूर्व की धम्म लिपि को परिमार्जित करते हुए नागरी लिपि में रूपांतरित किया। जिस वजह से पूर्व के कुछ शब्दों का जहां उन्नत और गुणवत्तापूर्ण भावार्थ निकलता था, उससे अब चमत्कार युक्त अर्थ, अलौकिक शक्ति का अर्थ, अदृश्य शक्ति का अर्थ, जाति समूह का अर्थ निकलने लगा था। आज भ्रमवंशियों द्वारा सबसे ज्यादा इसी बात का फायदा उठाया जा रहा है।

सम्यक संस्कृति का पहला शब्द नाम—

भगवान/भगवा (𑀪𑀕𑀯)

आज का 'भगवान' शब्द सम्यक संस्कृति के समय पालि भाषा में प्रयोग होने वाला 'भगवा' का संस्कारित स्वरूप है। पालि के अनेक अभिलेख में इस भगवां (𑀪𑀕𑀯), भगवता (𑀪𑀕𑀯𑀢), भगवतो (𑀪𑀕𑀯𑀢𑁄) को देखा जा सकता है।

सम्यक संस्कृति में भगवा का अर्थ (पालि) भग्ग रागो, भग्ग दोषो, भग्ग मोहो इतिपि सो भगवा कहा जाता था। यानी जब कोई भी व्यक्ति अपने अन्दर से समस्त राग (आसक्ति), द्वेष, मोह (मूढ़ता) को भग्न कर दिया, छोड़ दिया, त्याग दिया या त्याग देता था, सिर्फ वैसे ही व्यक्ति को भगवा या आज की संस्कारित भाषा संस्कृत/हिन्दी द्वारा भगवान कहा जाता था। सम्यक संस्कृति में भगवान की गुणवाचक उपाधि को प्राप्त करने वाले दो ही व्यक्ति का नाम मिलता है। जिसमें एक भगवान बुद्ध और दूसरे भगवान



अभिलेख भगवा, भगवता, भगवातो

महावीर हैं। क्योंकि ये दोनों अपने अन्दर से राग, द्वेष और मूढ़ता को मिटा दिए थे। लेकिन भ्रमवंशियों ने इस भगवान नाम का सम्बोधन किसी अदृश्य, अलौकिक, मोक्षदाता, मुक्तिदाता या चामत्कारिक व्यक्ति को करते हुए अपने द्वारा स्थापित भ्रमिक कथाओं के पात्रों को या आज के समय में चमात्कार दिखाने वाले पात्रों के संबोधन से करने लगे हैं; जो किसी भी दृष्टिकोण से पूर्व वाले गुणवाचक अर्थ का प्रतिनिधित्व नहीं करता है।

"इतिपि सो भगवा अरहं सम्मासम्बुद्धो विज्जाचरण सम्पन्नो सुगतो लोकविदू अनुत्तरो पुरिस-दम्म-सारथी सत्था देवमनुस्सानं बुद्धो भगवा'ति।"

*अर्थ–ऐसे ही तो है वे **भगवान!** अरहंत, सम्यक-सम्बुद्ध, विद्या तथा सदाचरण से सम्पन्न, उत्तम गति प्राप्त, समस्त लोकों के ज्ञाता, सर्वश्रेष्ठ, भटके लोगों को सही मार्ग पर ले आने वाले सारथी (पथ-भ्रष्ट घोड़ों की तरह), देवताओं और मनुष्यों के शास्ता (आचार्य) बुद्ध भगवान।*

"स्वाक्खातो भगवता धम्मो सन्दिट्ठिको अकालिको एहिपस्सिको ओपनेयिको पच्चत्तं वेदितब्बो विञ्ञूही'ति।"

*अर्थ–**भगवान के द्वारा** भली प्रकार आख्यात किया गया यह धर्म संदृष्टिक है काल्पनिक नहीं है, प्रत्यक्ष है, तत्काल फलदायक है, आओ और देखो (कहलाने योग्य है), निर्वाण तक ले जाने योग्य है, प्रत्येक समझदार व्यक्ति के साक्षात करने याग्य है।*

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स।

*अर्थ–नमस्कार है उन अर्हत सम्यक सम्बुद्ध **भगवान को**।*

इसी पालि के भगवा सम्बोधन से पालि व्याकरण के अनुसार भगवतो (भगवान के द्वारा), भगवतो (भगवान का), भगवता (भगवान में) सम्बोधन होता है। जिसको आज भ्रमवंशियों ने संस्कारित भाषा द्वारा भगवान को पुलिंग और भगवती को स्त्रिलिंग का प्रतिनिधित्व प्रदान कर दिया है।

इससे साफ पता चलता है कि सम्यक संस्कृति में भगवा (भगवान) शब्द गुणवाचक संज्ञा के रूप में गुणवत्ता के आधार पर गुणवाचक उपाधि बनती थी, लेकिन यही गुणवाचक संज्ञा सम्यक अंत काल में नामवाचक संज्ञा बनकर किसी का नाम बनकर शोभा दे रही है। जिससे उस शब्द का पूरा भावार्थ ही बदल गया है।

देव (𑀤𑁂𑀯)

सम्यक संस्कृति का यह संबोधन अपने आप में काफी दिग्भ्रमित करने वाला है। आज इस नाम से भ्रमवंशियों के साथ-साथ भ्रमवंशियों द्वारा निर्मित भ्रम के पुलिंदे से काफी लोग उलझे हुए हैं। इसी देव से देवी और देवता का निर्माण हुआ है, जो आज भ्रमवंशी संस्कृति में एक अदृश्य शक्ति का प्रतिनिधित्व करता है। भ्रमवंशी संस्कृति का संस्थापक पुत्र आज इसी देव का प्रतिनिधि बनकर स्वयं भूदेव बन बैठा है और सभी भ्रमिक संस्कृति के अनुयायियों को देव के भरोसे बैठाकर आर्थिक व मानसिक दोहन कर रहा है।

सम्यक संस्कृति में दो सम्राट ऐसे हुए हैं जो अपने नाम की जगह **'देवानाम पिय'** और पालि भाषा में **देवानङ्ग पिय** (𑀤𑁂𑀯𑀸𑀦𑀁 𑀧𑀺𑀬) लिखते थे और उनका लिखा अभिलेख भी मिला है, जिसे आप लोग भी देख सकते हैं। इन दो नामों में एक नाम सम्राट अशोक का है तो दूसरा नाम सम्राट समुद्रगुप्त का है। इन दोनों सम्राटों के व्यवहार से उस समय के देव कहे जाने वाले लोग बहुत ज्यादा प्यार करते थे, इस वजह से ये दोनों सम्राट अपने नाम से ज्यादा देवानाम पिय से प्रसिद्ध थे। जिसके कारण ये दोनों सम्राट अभिलेख में 'देवानाम पिय' लिखते थे। लेकिन इस बात पर लोगों के दो मत हैं। एक मत के अनुयायी भ्रमवंशी हैं जिनका कहना है कि दोनों सम्राट अलौकिक शक्ति देव के प्रिय थे इसलिए उनको देवानाम लोग कहते थे या वे स्वयं लिखते थे। अब भला सम्यक संस्कृति में अलौकिक देव कहां से आ टपके, जिसके सम्राट अशोक और सम्राट समुद्रगुप्त अनुयायी बन गये? यह बिल्कुल ही अतार्किक बात है। वहीं कुछ दूसरे ऐसे भी मान्याताधारी लोग हैं जिनका कहना है कि ये दोनों सम्राट भगवान बुद्ध के प्रिय होने की वजह से अपने नाम की जगह पर देवानाम पिय लिखते थे। यह बात भी सटीक नहीं लग रही है। क्योंकि जो व्यक्ति उस समय जीवित नहीं है, उसका प्रिय कोई कैसे हो सकता है? जैसे कोई व्यक्ति का जन्म होता है और उस व्यक्ति के जन्म से पूर्व उसके दादा की



चित्र देवानाम

मृत्यु हो जाती है। अब वह व्यक्ति अपने मृत हो गये दादा का प्रिय कैसे होगा? कोई किसी का प्रिय तभी हो सकता है, जब उसको प्यार करने वाला जिन्दा होगा, अन्यथा उसको प्यार कौन करेगा और जब प्यार नहीं करेगा तो फिर वह किसी का प्रिय कैसे कहलायेगा?

यहां भी दोनों सम्राटों से काफी वर्ष पूर्व ही भगवान गौतम बुद्ध का महापरिनिर्वाण हो गया था। इस तर्क से इन लोगों को भगवान गौतम बुद्ध कभी प्यार नहीं किये थे। अब यह भी कह सकते हैं कि ये लोग भगवान गौतम बुद्ध को प्यार करते थे, इस वजह से ये लोग देवानाम पिय लिखते थे। यह बात भी तर्क की कसौटी पर सही नहीं बैठ रही है। जब ये लोग भगवान गौतम बुद्ध को प्यार करते थे तो इन दोनों सम्राटों को बुद्धपिय अशोक और बुद्धपिय समुद्रगुप्त लिखना चाहिए था, लेकिन ये लोग ऐसा नहीं लिखते थे। फिर क्या भगवान बुद्ध को देव कहा जाता था? नही! भगवान बुद्ध का ऐसा नाम कहीं नहीं मिला है। उल्टे भगवान गौतम बुद्ध को देवों का शास्ता (आचार्य) कहा जाता था।

बुद्ध वंदना–**"इतिपि सो भगवा अरहं सम्मासम्बुद्धो विज्जाचरण सम्पन्नो सुगतो लोकविदू अनुत्तरो पुरिस-दम्म-सारथी सत्था देवमनुस्सानं बुद्धो भगवा'ति।"**

यह जो बुद्ध वंदना देख रहें हैं उसमें भगवान गौतम बुद्ध को सभी देव और मनुष्य दोनों का शास्ता बताया गया है। इस बात से तो स्पष्ट हो जाता है कि देव कोई अलौकिक या स्वयं भगवान गौतम बुद्ध का प्रतिनिधित्व करने वाला शब्द नहीं है। यह जरूर ही उस समय भगवान गौतम बुद्ध जिनके शास्ता (आचार्य) होते थे, वैसे लोगों का देव नाम से संबोधन होने वाला शब्द है। अब देखना है कि भगवान गौतम बुद्ध का शिष्य मनुष्य के अलावा देव शिष्य कौन है, जिसको हम लोग जान नहीं पाए हैं? उसमें भी वह देव शिष्य भगवान गौतम बुद्ध के बाद का स्थान लेता हो! तभी तो सम्राट उसके प्रिय होते थे। ऐसा एक ही नाम है जो संघ के अन्दर भिक्खु/भिक्खुनियां होती थीं। उनमें से कुछ अपनी साधना की वजह से ऊंची अवस्था प्राप्त कर अरहत बन जाते थे। इनके बारे में भगवान बुद्ध भी स्वयं बोलते थे कि तुम लोग जिस दिशा में देसना (उपदेश) देने जा रहो

हो तो समझो कि उस दिशा में भगवान बुद्ध स्वयं देशना देने जा रहे हैं। ये लोग भी भगवान को अपना शास्ता (आचार्य) ही मानते थे। ऐसे देशना देने वाले को ही देव कहा जाता था।

सम्यक संस्कृति के समय एक राज्य विदिशा था जहां सांची स्तूप का साक्ष्य मिला है। उस विदिशा की राजधानी उस समय भरहुत हुआ करती थी। भरहुत सतना से 16 किलोमीटर दूर एक ग्रामीण क्षेत्र है। आज भरहुत की खुदाई से बहुत ही बड़ी मात्रा में बौद्ध अवशेष मिले हैं। वहां से पुष्यमित्र शुंग का किला होने के भी साक्ष्य मिले हैं। वह क्षेत्र मध्य प्रदेश में आता है। उसी विदिशा में एक नगर का नाम देवास मिला है, तो एक स्थान का नाम देव कोठार (देउरकोठार) मिला है। इस देव कोठार में पच्चास से ज्यादा स्तूप होने का साक्ष्य मिला है, जो आज भी खड़ा है। यह देव कोठार पहाड़ की सबसे ऊंची चोटी पर अवस्थित है। इसी देव कोठार की पहाड़ी के नीचे देवास नाम का गांव भी है।



देव कोठार का चित्र

देव कोठार में जो कोठार शब्द है, यह आज का संस्कारित भाषा का शब्द है, जिसको पालि में या आज भी गांवों की प्रचलित भाषा में कोठा कहते हैं। यह कोठा शब्द का प्रयोग मकान के सबसे ऊपरी छत या जगह को कहते हैं। देव कोठार में भी निर्मित स्तूपों का परिसर पहाड़ी भाग के सबसे ऊपरी ऊंचाई पर स्थित है। यह तीन ओर से खाई से घिरा हुआ बहुत ही रमणीक स्थान है। उस देव कोठार की पहाड़ी सतह पर स्वाभाविक रूप

से कुछ कन्दरा बने हैं, जिसमें सामूहिक रूप से बैठकर साधना करने का साक्ष्य मिलता है। यहां जो स्तूप मिला है उसमें एक स्तूप बहुत विशाल है और बाकी सभी स्तूपों की संरचना एक समान है। अब आप लोगों को पता ही होगा कि सामान्य भिक्खु लोगों का स्तूप नहीं मिला है या नहीं बनता था। स्तूप जो भी बनता था, वह अरहत प्राप्त भिक्खु और भिक्खुनियों का बनता था। ये सभी देशना देने वाले अरहत भिक्खु या भिक्खुनियों के स्तूप हैं। इसी वजह से इस स्थान को देव लोगों का कोठा या घर (देव कोठार) कहते हैं। पालि भाषा के इसी कोठा से कोठी और कोठरी बना है। जिस वजह से आज बहुत से क्षेत्रों में बने बड़े घर को कोठी बोलते हैं और बहुत से क्षेत्रों में घर के अन्दर बने कमरा (रूम) को कोठरी कहते हैं। कहीं-कहीं तो अनाज रखने हेतु मिट्टी से बने गोलाकार आकार के घर को भी अनाज की कोठी कहा जाता है।

सम्यक संस्कृति में असाढ़ पूर्णिमा के बाद जब वर्षावास प्रारम्भ होता था, तो बुद्ध संघ के अन्दर धम्म देशना देने वाले भिक्खु-संघ के लोग पहाड़ों की कन्दराओं में चले जाते थे और अपनी धम्म देशना को साधना के माध्यम से और ज्यादा तीक्ष्ण करते थे, ताकि वर्षावास के बाद ज्यादा प्रभावी तरीके से गृहस्थ लोगों को धम्म देशना दे पाएं। ऐसा ही एक बहुत विशाल स्थल पहाड़ों के ऊपर कंदराओं में है जिसका नाम "देव कोठार" है। वर्षावास खत्म होने के बाद सभी लोग धम्म देशना देने पहाड़ों और कन्दराओं से निकलकर गृहस्थों के बीच में नीचे चले आते थे। जिस वजह से इनके नीचे रहने वाले स्थानों को देव का वास यानी देवास से लोग संज्ञा से संबोधन करते थे और उन देव के जलाशयों को लोग देव तालाब के नाम से जानते थे। आज ऐसे कई देवास और देव तालाब देखने को मिलेंगे। इसी देव से देव अरिओ या देव अरिहंत का अपभ्रंश आज का देवरिया (उ.प्र.) स्थापित है।

धम्म प्रिय उपाधि प्राप्त सम्राट अशोक और सम्राट समुद्रगुप्त धम्म देशना देने वाले अरहत भिक्खु (देव) का प्रिय होने की वजह से ही लोग उन्हें देशना देने वाले देवों के प्रिय कहते थे, इसलिए इन दोनों का नाम 'देवानामप्रिय' (**देवानङ्ग पिय / 𑀤𑁂𑀯𑀸𑀦𑀁 𑀧𑀺𑀬**) प्रचलित था।

बुद्ध वन्दना से भी स्पष्ट हो गया कि भगवान बुद्ध देव और मनुष्य दोनों के शास्ता हैं।

इससे साफ पता चलता है कि सम्यक संस्कृति में देव (देवता) शब्द गुणवाचक संज्ञा के रूप में गुणवत्ता के आधार पर देसना देने वाले भिक्खुओं का गुणवाचक उपाधि बनता था, लेकिन यही गुणवाचक संज्ञा सम्यक अंत काल में नामवाचक संज्ञा बनकर किसी का नाम बनकर शोभा दे रही है। जिससे उस शब्द का पुरा भावार्थ ही बदल गया है।

ईश्वर/इसिवर (𑀇𑀲𑀺𑀯𑀭)

'ईश्वर' शब्द आज की संस्कारित भाषा संस्कृत का शब्द है, जिसका अर्थ अलौकिक, सर्वशक्तिमान, सृष्टि का संचालक जैसे कर्ता भाव से जाना जाता है। लेकिन यही ईश्वर जब संस्कारित भाषा से पूर्व सम्यक संस्कृति वाली पालि भाषा का शब्द बनता था, तो इस शब्द का स्वरूप 'इसिवर' हो जाता था। जिसका अर्थ अलौकिक, सर्वशक्तिमान, अदृश्य नहीं होकर सदृश्य व्यक्तियों की एक गुणवाचक उपाधि बन जाता था। परन्तु आज उसी शब्द की शल्य क्रिया करते हुए अलौकिक, सर्वशक्तिमान, सृष्टि का संचालक जैसे न जाने कौन कौन-सा चामत्कारिक संबोधन कर प्रत्यारोपण (Implant) करते हुए भ्रम का पुलिंदा बनाकर खूब प्रचार किया गया है।

मानव सभ्यता की शुरुआत से ही मानव जीवन के विकास क्रम हेतु कुछ विशिष्ठ लोगों के शोध का काफी अहम योग्यदान रहा है, जो सम्यक संस्कृति के ज्ञात और पठनीय संस्कृति में खूब फला-फूला था। वैसे महान लोग मानव के दैनिक जीवन की जीवकोपार्जन से लेकर हर प्रकार के कुदरतन प्राप्त वस्तुओं के रहस्यों की एचना करते थे, पर्वेचना करते थे, लाभ-हानि की विवेचना करते थे, गुण-दोष की तुलना करते थे। ऐसे विवेचना करने वाले विशिष्ठ लोगों में दो प्रकार के लोग होते थे। एक वैसे लोग होते थे जो मनुष्य के बाहरी (भौतिक) जीवन की आवश्यकतों की खोज करते थे तो वहीं दूसरी ओर ऐसे भी लोग होते थे जो मनुष्य की अंदरूनी (चैतसिक) जरूरत की खोज करते थे। बाहरी जरूरत सम्पूर्ण भौतिक आवश्यकता का स्वरूप था तो अन्दरूनी जरूरत सम्पूर्ण चैतसिक आवश्यकता का स्वरूप था। चैतसिक स्वरूप मनुष्य का राग, द्वेष और मूढ़ता (मन की शुद्धि) को

शुद्ध करता था, इसी वजह से ऐसे शोधकर्ता, खोजकर्ता को मुनि कहा जाता था। जिसमें भगवान बुद्ध और भगवान महावीर जैसे को क्रमशः शाक्य मुनि और जैन मुनि कहा जाता है। आदर से ऐसे लोगों को मुनिवर भी कहा जाता था। दूसरी ओर मानव जीवन के बाहर की भौतिक आवश्यकता के खोजकर्ता, शोधकर्ता को ऋषि कहा जाता है। लेकिन उस ऋषि में जो ऋ वर्ण है वह धम्म लिपि (ब्राह्मी लिपि) के वर्णमाला में नहीं होने के कारण उसका उच्चारण 'इ' से किया जाता था। इसलिए सम्यक संस्कृति के समय ऋषि का संबोधन इसि से होता था। आज भी बोल-चाल में ऋषि और मुनि दो नामों का उपयोग होता है। लेकिन इस इसि के अंत में वर जुड़ा हुआ है, जिस वजह से यह इसिवर बन गया। अब देखना है कि यह वर क्या है?

दरअसल 'वर' शब्द का प्रयोग सम्यक संस्कृति में काफी होता था। उस वर शब्द का अर्थ श्रेष्ठ होता था। जैसे बुद्ध वन्दना का एक वाक्य है–

॥ नत्थि मे सरणं अञ्ञं, बुद्धो मे सरणं **वरं** ॥

हिन्दी अनुवाद–मेरा अन्य कोई शरण नहीं है, केवल बुद्ध ही मेरा **श्रेष्ठ** शरण है।

॥ यो सन्निसिन्नो **वरं** बोधिमूले, मारं ससेनं महतिं विजेत्वा ॥

हिन्दी अनुवाद–जिन्होंने **श्रेष्ठ** बोधिवृक्ष के नीचे बैठ कर, महती सेना सहित मार को पराजित कर सम्बोधी प्राप्त की।

सम्यक संस्कृति के समय वर का प्रयोग तो आप लोगों ने देख ही लिया कि यह जहां भी प्रयोग हुआ है वहां इसका अर्थ आज की संस्कारित भाषा द्वारा श्रेष्ठ ही हुआ है। इसी वजह से उस समय सभी वैसे आदरसूचक नामों के अंत में वर का उपयोग होता था। फलस्वरूप इसि और मुनि जैसे लोगों को आदरसूचक संबोधन के साथ पालि भाषा में 'इसिवर' और 'मुनिवर' कहा जाता था।

सम्यक संस्कृति के सदृश्य सामंती संस्कृति में भी बहुत सारे आदर सूचक पदनाम हैं जिसके संबोधन के समय हम सभी लोग अंत में वर को जोड़ देते हैं। ताकि उनकी श्रेष्ठता बनी रहे, उनका सम्मान बना रहे, उनका आदर होता रहे। ऐसे प्रयोग का पदनाम मान्यवर, गुरुवर, पूज्यवर।

सम्यक संस्कृति के काल में सारनाथ उत्तर भारत का एक प्रमुख स्थान था, जहां लोग कुदरत के रीत की एचना करने, प्रवेचना करने, विवेचना और शोध करने जाते थे, जिस वजह से उस स्थान का नाम **'इसि पत्तन'** पड़ गया था। यहां 'इसि' और 'पत्तन' दो शब्द हैं। जिस स्थान की महता जिस कार्य के लिए या जिस खास व्यक्ति के लिए उपयोग हो, आगे उस स्थान का नाम उसी से ज्यादा प्रसिद्ध हो जाता है। यहां की भी भूमि इसि लोगों का पसन्दीदा स्थान था इसलिए इस स्थल का नाम **इसि** से प्रमुख बन गया। इस इसिपत्तन नाम की चर्चा भगवान बुद्ध के वचनों या बौद्धिक ग्रंथों में भी है। जैसे—**एकं समयं भगवा बाराणसियं विहरति इसिपत्तने मिगदाये।**

दूसरा नाम पत्तन यानी जलमार्ग के किनारे वाला वह स्थान जहां नाव या जहाज को खड़ा करके उतार-चढ़ाव का कार्य किया जाता हो। उसे पालि भाषा में पत्तन कहते हैं, ऐसे यह पत्तन नाम का संबोधन आज भी यथावत है और वैसे ही कुछ स्थानों को संबोधित किया जाता है जो जलमार्ग के किनारे वाले स्थान हैं। जैसे विशाखा पत्तन, मुरगांव पत्तन। ऐसे सम्यक संस्कृति के पत्तन (Port) रहे बहुत से स्थानों का नाम आज बदल गया है। यह इसि नाम का स्थान भी गंगा नदी के तट पर बसा हुआ है, जहां इसि लोग जलमार्ग का उतार चढ़ाव करते हुए नदी किनारे घने जंगल वाले स्थान पर साधना करने जाते थे। इसी वजह से उस नदी किनारे वाले स्थान को इसिपत्तन कहते थे, जिसे आज सारनाथ कहते हैं। यही वह क्षेत्र है जहां इसि लोग जाकर कुदरत के सभी गुण स्वभाव का शोध करते थे। इस जगह पर भगवान बुद्ध (नाथ) ने प्रथम धम्मचकप्पवत्तन करते हुए पंच वग्गीय भिक्खुओं को सार दिया था। नाथ ने पांच भिक्खुओं को सार दिया इस वजह से इसिपत्तन स्थान के नाम का बाद में रूपांतरण होकर इसका नाम सारनाथ हो गया।

इससे साफ पता चलता है कि सम्यक संस्कृति में इसिवर (ईश्वर) शब्द गुणवाचक संज्ञा के रूप में गुणवत्ता के आधार पर गुणवाचक उपाधि बनता था, लेकिन यही गुणवाचक संज्ञा सम्यक अंत काल में नामवाचक संज्ञा बनकर किसी का नाम बनकर शोभा दे रही है। जिससे उस शब्द का पूरा भावार्थ ही बदल गया है।

इन सब बातों से स्पष्ट हो जाता है कि सम्यक संस्कृति में इसि (ईश्वर) शब्द का प्रयोग किसी अदृश्य, अलौकिक, सर्वशक्तिमान जैसी संज्ञा के लिए नहीं, बल्कि मनुष्य के बाहरी (भौतिक) जीवन की आवश्यकताओं को बेहतर बनाने हेतु निरंतर खोज करने वाले वैज्ञानिक (इसि) को कहा जाता था। जिन्हें लोग आदर के साथ इसिवर कहकर संबोधित करते थे।

"सरस्वती या सुरसती" (𑀲𑀼𑀭𑀲𑀢𑀻)

भारत में सम्यक काल की जितनी भी शब्दावली थी, उसका प्रयोग व भावार्थ उस समय की भाषा (पालि) के अनुसार काफी उत्कृष्ट व ज्ञानवर्धक होता था। लेकिन भारत में सम्यक काल जैसे-जैसे निरंतर आगे बढ़ता गया, वैसे-वैसे सम्यक पालि भाषा का संस्कार (संस्कृत बनते) होते हुए, भाषा का विकास कहें या विनाश कहें, होता गया। प्रत्येक वर्ष फागुन महीना में पंचमी आती है, उस दिन लोग स्वरसती नाम (अपभ्रंश सरस्वती) की देवी की स्थापना करते हैं और बड़े ही धूम-धाम से उसकी पूजा करते हैं। लोगों की ऐसी मान्यता है कि स्वरसती नाम की देवी की पूजा करने से विद्या बढ़ती है या जिसके पास विद्या नहीं है उसे विद्या प्राप्त हो जाती है।

लेकिन सम्यक संस्कृति में विद्या अध्ययन कराने वाले शिक्षण संस्थानों के अनेक साक्ष्य मिले हैं। जिनमें ऐसी या किसी भी प्रकार की सरस्वती देवी से संबंधित कोई साक्ष्य लिखित रूप से या मूर्ति के रूप में प्राप्त नहीं हुआ है। फिर आज की मान्यता ऐसी कैसे बन गयी?

दरअसल यहां के लोग भ्रमवंशियों द्वारा प्रत्यारोपित (Implant) भ्रम का पुलिंदा वाली व्यवस्था के चंगुल में इतना फंस गये हैं कि उनके द्वारा बताई गई कथा कहानियों से बाहर निकलकर कुछ सोचना ही नहीं चाहते हैं। आइए इस 'सरस्वती' शब्द को समझें कि इस शब्द का उद्‌भव कहां व कैसे होते हुए आज लोगों के पास पहुंचा है।

पालि भाषा में एक शब्द है सती जिसका अर्थ होता है सजग। इसको उदाहरण से समझें। सम्यक संस्कृति में आष्टांगिक मार्ग के अंदर एक मार्ग का नाम हैं 'सम्यक सती'। इसमें जो 'सती' शब्द है उस 'सती' का अर्थ पालि में 'सजग रहना' होता है।

दूसरा, सम्यक काल में जो पालि भाषा और धम्म लिपि थी उसकी वर्णमाला में सुर होते थे जिसे आज संस्कारित भाषा में स्वर कहते हैं। किसी भी भाषा में सुर का महत्त्व बहुत ज्यादा होता है। चाहे वह मनुष्य की भाषा हो या जानवर की ही भाषा क्यों न हो। यह 'सुर' जन्म से ही प्रत्येक प्राणी जगत को प्रकृति प्रदत्त प्राप्त होता है, जिस वजह से इसका उपयोग पृथ्वीलोक में जन्म से सभी प्राणी जगत करता है।

जैसे अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ।

यह प्रकृति प्रदत्त 'सुर' जब 'सती' के साथ काम करता है तभी यह व्यंजन का रूप लेता है, अन्यथा यह सुर बेसुरे स्वरूप में ही यथावत बरकरार रहेगा। इसी को सम्यक काल में 'सुरो का सती' कहते थे। आज भी कई लोग कहते हैं कि यह सुरो का सरताज है।

इसी 'सुर' और 'सती' को जब संस्कारित भाषा (स्वर और सती) में एक साथ लिखेंगे तो यह 'स्वरसती' का रूप ले लेगा।

लेकिन दुर्भाग्य!

यह सम्यक काल की उत्कृष्ट अभ्यास वाली प्रणाली को भ्रमवंशी कलम कसाई ने कर्मकांड के रूप में विकृत करते हुए भ्रम का पुलिंदा बनते हुए जीवकोपार्जन हेतु प्रत्यारोपित (Implant) कर दिया है।

पितृ पक्ष और दुर्गा पूजा

(पितु पक्ख 𑀧𑀺𑀢𑀼 𑀧𑀓𑁆𑀔 और मातु पक्ख 𑀫𑀸𑀢𑀼 𑀧𑀓𑁆𑀔)

अश्विन (पालि में अस्सयुज-असोज्ज) महीना का कृष्ण पक्ष (कण्ह पक्ख) में **'पितृपक्ष'** (पितु पक्ख) और दूसरा शुक्ल पक्ष (सित पक्ख) **'दुर्गासाधना पक्ष'** के रूप में मनाने वाली परंपरा की सच्चाई हेतु भारत में स्थापित सम्यक संस्कृति (बौद्धिक संस्कृति) को समझना होगा। क्योंकि आज की जितनी भी विकृतिपूर्ण कुरीति या परंपरा दिखती हैं, वह सब उसी सम्यक संस्कृति के आर्य-थेर संघ और आर्य महासांघिक संघ से निकले वज्रयान के घुसपैठिये हैं, जो आगे अपने-अपने नाम से नये-नये विकृतिपूर्ण संप्रदाय को बनाते हुए बंगाल की खाड़ी (ब्राह्मणी संस्कृति) में मिला हैं।

आज का काल्पनिक पितृ पक्ष और दुर्गा पूजा जैसी आडम्बर पाखण्ड से परिपूर्ण कुरीति कर्मकांड की वास्तविकता को समझने हेतु सम्यक संस्कृति में संघ होता था। उस संघ में देशना देने वाले (देवगण) जितने भी अरहत भिक्खु होते थे, वे वर्ष के 9 महीने गृहस्थों (Layman) के बीच ज्ञान की देशना (Teachings) देते थे और 3 महीना वर्षा के समय कंदराओं में, गुफाओं में, पहाड़ों पर वर्षावास (सावन, भादो, अश्विन) करते थे। जिसमें अरहत भिक्खु और भिक्खुनी दोनों अपने ज्ञान को मजबूत करने हेतु, विपस्सना साधना (Practice of Insight meditation) करते थे। इसी वजह से आज की प्रचलित मान्यता अनुसार वर्षावास के समय सभी देवगण को अनुपस्थित रहने की वजह से शुभ कार्य बंद रहता है।

वर्षावास का अंतिम महीना अश्विन होता है। इस महीने के बाद सभी अरहंत भिक्खु और भिक्खुनी (देवगण) को देशना (ज्ञान देना) देने हेतु गृहस्थों के बीच जाना निश्चित होता है।

इस वजह से भिक्खु और भिक्खुनी को अपनी प्राप्त ज्ञान साधना की जांच होती है।

यह जांच साधना-विधि द्वारा की जाती है।

जिसमें अश्विन महीना का पहला कृष्णपक्ष (कण्ह पक्ख) में पुरुष भिक्खुओं की साधना जांच होती है।

इस वजह से इस पक्ख (पक्ष) का नाम 'पितु साधना पक्ख' से जाना जाता था, जो आज विकृत होते हुए पितु साध पख से **'पितृ श्राद्ध पक्ष'** बन गया है या किसी साज़िश के तहत किसी धूर्त ने भ्रम का पुलिंदा बनाते हुए इसे जीवकोपार्जन का साधन बना लिया है।

वहीं अश्विन महीने के दूसरे पक्ख में महिला भिक्खुनी की साधना जांच होती थी।

विनय पिटक के अनुसार महिला भिक्खुनी का नियम पुरुष भिक्खुओं से बहुत कठिन होता था,

जिस वजह से महिला साधु (भिक्खुनी) की जांच साधना का नाम 'दुग्गम मातु साधना पख' से जाना जाता था। यह नाम आगे विकृत होते हुए दुग्गम मातु साधना से संस्कारित होते हुए 'दुर्गम मातु साधना पक्ष' द्वारा

आज **'दुर्गा माता साधना पक्ष'** बन गया है और भ्रम का पुलिंदा बनते हुए शाक्त पंथ का हिस्सा बनकर रह गया है। ऐसे ही एक जानकारी और प्राप्त कर लें कि यह दुर्गा साधना की प्रथा वज्रयान से निकली शाक्त पंथ में थी, जिस वजह से आज यह परम्परा सिर्फ शाक्त पंथी क्षेत्रों में ही मिलेगी। यह अलग बात है कि आज 25-30 वर्षों से हर ब्राह्मणी कर्मकांड का वैश्वीकरण होने की वजह से सारा कर्मकाण्ड का थोड़ा बहुत स्वरूप हर जगह मिल जाता है। लेकिन दुर्गा पूजा का जो स्वरूप आपको उत्तर-पूर्वी भारत (पाल वंश का क्षेत्र) में मिलेगा, वैसा स्वरूप कहीं नहीं मिलेगा। क्योंकि यह पूर्व काल में शाक्त पंथ बहुलता का क्षेत्र हुआ करता था।

यह दोनों अश्विन के पहले कृष्ण पक्ष और दूसरे शुक्ल पक्ष में होता है।

इसके बाद भिक्खु-संघ के लोग देशना देने हेतु, गृहस्थों के बीच निकल जाते हैं, जिस वजह से पुनः 9 महीना शुभ-कार्य इन सभी (भिक्खु-संघ) के द्वारा सम्पन्न होने लगता है। लेकिन यही पितु पक्ख और मातु पक्ख को कलम कसाइयों द्वारा भ्रम का पुलिंदा के तौर पर पितृ पक्ष और दुर्गा माता पक्ष बना दिया गया है।

'सनातन'

यह शब्द आज लोगों को काफी दिग्भ्रमित कर रहा है, आइए जाने सनातन क्या है या सनातन कहते किसे हैं!

आज के समय में तथाकथित कुछ लोग भ्रमवंशी धूर्तों द्वारा प्रत्यारोपित हिन्दू समुदाय को समय समय पर हिन्दू से अलग उसका एक पर्यायवाची नाम देते रहते हैं। क्योंकि इसके पीछे उनकी भी मजबूरी है। भ्रमवंशी लोग अपने समुदाय का जो भी नामकरण करते हैं, उस नाम पर उनके ही ग्रंथों द्वारा इतनी टीका टिप्पणी होने लगती है, कि भ्रमवंशियों को अपना प्रत्यारोपित समुदाय का नाम हमेशा बदलना पड़ता है। भ्रमवंशियों ने अभी नया सम्बोधन सनातन शब्द से किया है।

फिर यह सनातन शब्द क्या है?

वस्तुतः भारत की सम्यक संस्कृति के समृद्ध व उत्कृष्ट विश्वगुरु वाले भारत में 'धर्म' प्रकृति के गुण, स्वभाव व नियम (Law of nature) को

कहते थे। जिसकी वजह से गुण, स्वभाव व कुदरत के नियम को सृष्टि के आदि से अंत तक को बोला जाता था। यानी भारत की समृद्धशाली भाषा में उसे **'एस धम्मो सनंतनो'** (𑀏𑀲 𑀥𑀫𑁆𑀫𑁄 𑀲𑀦𑀁𑀢𑀦𑁄) कहा जाता था, यानी यह कुदरत का गुण, स्वाभव, धर्म सनातन है, जो कभी खत्म नहीं होगा। यानी पहला तो धर्म गुणवाचक है और दूसरा उस गुणवाचक धर्म की विशेषता है कि वह आदि और अनंत है। लेकिन इसी गुण और गुण की विशेषता को संबोधित करने वाले शब्द को जब संज्ञा बना देंगे तो वह उत्पन्न होना और नष्ट होने का स्वरूप धारण कर लेगा। आज उसी का परिणाम है कि पूर्व कालीन कुदरती गुण, स्वभाव का प्रतिनिधित्व करने वाले 'धर्म' की जगह पर आज के नए विकसित सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व करने वाले धर्म को भ्रमवंशियों ने प्रत्यारोपित कर दिया है इसलिए कभी-कभी हिन्दू के जगह पर सनातन भी बताने लगते हैं। ये दोनों ही सर्वथा अनुचित ही नहीं, बल्कि अप्रासंगिक है।

सनातन का अर्थ होता है जिसका आदि और अंत नहीं हो, जो शाश्वत हो, जो निरंतर रहे। ऐसे सभी गुण, धर्म, स्वभाव जिसका आदि और अंत नहीं हो, उसे सनातन धर्म कहते हैं।

जैसे—कोई मनुष्य जब गुस्सा करता है तो उसका मन व्याकुल हो जाता है। यहां मन का व्याकुल होना ही उसके मन का गुण-धर्म, स्वभाव है, जो मानव के उद्‌भव से लेकर मानव जीवन के अन्त तक रहने वाला है। यहां जो मन का गुण-धर्म, स्वभाव है वही सनातन है। अब कोई आज का मनुष्य गुस्सा करे या पाषाण काल का मनुष्य गुस्सा करे, या आने वाले कोई और काल का मनुष्य गुस्सा करे, गुस्सा के बाद उसे व्याकुल होना ही पड़ेगा। उसी प्रकार पृथ्वी का घूमना, सूर्य द्वारा रोशनी व ऊष्मा देना, चंद्रमा द्वारा रोशनी व शीतलता प्रदान करना, इन सभी का जो गुण-धर्म, स्वभाव है वह आदि और अनंत है। वह कभी खत्म नहीं होगा। इसी वजह से वैसे सभी गुण-धर्म, स्वभाव को सनातन धर्म कहा जाता है। इसे किसी सम्प्रदाय (आज का धर्म जो संप्रदाय का पर्यावाची बना है) से जोड़ना एक मूर्खता ही कहा जा सकता है। क्योंकि कोई भी संप्रदाय आदि व अनंत नहीं होता है। समय व परिस्थिति के अनुसार सभी सम्प्रदायों का परिवर्तन होना निश्चित है यानी आज का हिन्दू सम्प्रदाय भी परिवर्तनशील है। जबकि कुदरत का गुण, स्वभाव, नियम अपरिवर्तनशील है।

ऐसा करने के पीछे भ्रमवंशी समुदाय की एक मजबूरी है कि इसने अपने जन्म काल के बाद से ही अपने द्वारा निर्मित अनेक संप्रदाय को एकीकृत कोई एक नाम कभी दे नहीं पाया है। आज भी भ्रमवंशी समुदाय के अन्दर विभिन्न मतों का जमावड़ा है, जिसमें सभी का दर्शन अलग है, सभी के ललाट पर चन्दन टीका के निशान अलग-अलग हैं, सभी के ग्रंथ अलग-अलग हैं, सभी के आराधना स्थल अलग-अलग हैं, सब लोग जब किसी मजबूरी बस किसी प्रायोजन में एक जगह इकट्ठे होते हैं तो सभी की मतभिन्नता जगजाहिर हो जाती है और यह मतभिन्नता कभी-कभी इतनी बढ़ जाती है कि आपस में झगड़ा फसाद का बड़ा रूप ले लेती है (कुंभ मेला)।

ऐसे इस शैव सम्प्रदाय और वैष्णव सम्प्रदाय के झगड़ा फसाद पर कृष्ण झा और धीरेन्द्र कुमार झा द्वारा लिखित पुस्तक 'अयोध्या की वह स्याह रात' जिसका अंग्रेजी संस्करण हार्पर कालिन्स पब्लिशर्स इंडिया लिमिटेड और हिन्दी संस्करण फालकोण फालकोण से प्रकाशित है, जिसमें पेज नम्बर 169-170 पर लेखक लिखते हैं कि रामानंदी सम्प्रदाय वैष्णव संप्रदाय के कई पंथों में एक पंथ है। इसमें विष्णु के विभिन्न अवतारों की पूजा होती है। रामानंद का जन्म तेरहवीं शताब्दी में इलाहाबाद में हुआ था। इस रामानंद पंथ में साधु और नागाओं की सबसे बड़ी फौज पायी जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि रामानंदियों ने अपनी सैन्य संरचना शैवों से सुरक्षा हेतु बनाई थी। आगे लिखते हैं कि आदिशंकर द्वारा स्थापित शैव सम्प्रदाय के लोगों ने अपने विस्तार हेतु सात प्रमुख शैव अखाड़ों का निर्माण किया था, जिसे दशनामी सम्प्रदाय कहा जाता था। दशनामी अखाड़ों के नागा सैनिक भगवान शिव की पूजा करते हैं और आदि शंकर को अपना गुरु मानते हैं। उसी प्रकार रामानंदी के नागा सैनिक भगवान राम की पूजा करते हैं और रामानंद को अपना गुरु मानते हैं। रामानंदी के लोग तुलसीदास द्वारा लिखित रामचरित मानस को अपना प्रमुख ग्रंथ मानते हैं। (अखाड़ा उसे कहते हैं जहां शस्त्रधारी लड़ाकू नागा साधु निवास करते हों।)

वे आगे लिखते हैं कि दशनामी अखाड़ों का गठन मुख्यतः पूर्व कालीन सम्यक संस्कृति में स्थापित बुद्ध विहार, संघाराम, बौद्ध मठ, सम्यक शिक्षण संस्थान, जैन मठ के साथ-साथ सामंतवाद के समय बनी वैष्णव या अन्य संप्रदाय के बने मठ मंदिरों के ऊपर जबरन कब्जा जमाने के लिए किया

जाता था। इसी वजह से रामानंदी अखाड़ा दशनामी अखाड़ों से बचने के लिए बनाया गया था।

इसी कारण दशनामी अखाड़ा और रामानन्दी अखाड़ा के बीच आपस में हत्या प्रतिहत्या के कई प्रमाण मिलते हैं। 1690 ईस्वी में नासिक के सिहंस्थ मेले में दशनामी अखाड़ा के नागा साधु और रामानंदी अखाड़ा के नागा साधुओं के बीच भारी नरसंहार हुआ था। उसी प्रकार 1760 ईस्वी में हरिद्वार के शाही स्नान में इन दोनों के बीच खूनी लड़ाई हुई थी जिसमें दोनों ओर से कई हजार नागा साधुओं की मौत हुई थी। प्रयाग का तो कहना ही नहीं है यहां पर दशनामी और रामानंदी अखाड़ा के बीच प्रत्येक कुम्भ मेला में दोनों ओर से शस्त्रों का प्रदर्शन होता है। इसी वजह से दशनामी अखाड़ा का एक नागा, जिसका नाम भैरव गिरी गोस्वामी था, उसने यह प्रण कर रखा था कि प्रत्येक दिन कम-से-कम एक वैष्णव नागा की हत्या नहीं कर दूं तब तक भोजन नहीं करूंगा। भैरव गिरी नागा के इस हिंसात्मक कार्य को देखते हुए रामानन्दी अखाड़ा का एक नागा, जिसका नाम रामदास था, ने भी प्रतिज्ञा की कि मैं भी जब तक एक दशनामी अखाड़ा के नागा की हत्या नहीं कर लूंगा तब तक मैं भी भोजन नहीं करूंगा।

भ्रमवंशियों द्वारा स्थापित सम्प्रदाय की यही कहानी रही है और इसका जन्मकाल तो आप लोग देख ही लिए कि यह नौवीं शताब्दी के बाद पैदा हुआ और आजादी पूर्व काल तक विभिन्न नामों से बट कर मौजूद था। स्त्रोत—इनके धार्मिक ग्रंथ और अंग्रेजी काल की जनगणना को देख सकते हैं।

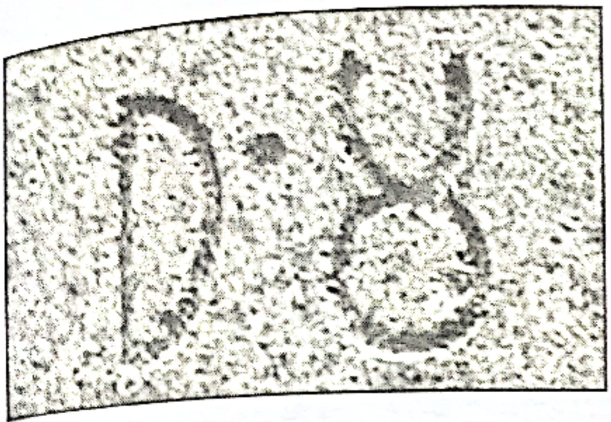
धर्म/धम्म (D.४)

सर्वप्रथम धर्म या धम्म शब्द की प्रथम जानकारी भारत की ज्ञात सभ्यता ईसा से 530 वर्ष पूर्व में हुई थी। इस ज्ञात सभ्यता से पूर्व की रही सभ्यता-संस्कृति में धर्म/धम्म की जगह पर किस भाषा में किस शब्द का प्रयोग होता था, इस बात की पक्की जानकारी आज तक किसी को नहीं है। इसके बारे में आज जो भी लोग कुछ कहते हैं या लिखते हैं, वह सारा कलम कसाईयों का कपोल-कल्पित कल्पना द्वारा निर्मित भ्रम का पुलिंदा है। ज्ञात काल में भगवान गौतम बुद्ध ने पहली बार अपना ज्ञान प्राप्ति के बाद इस शब्द को धम्म चक्क पवत्तन (धर्म चक्र प्रवर्तन) के रूप में प्रयोग

करते हुए स्थापित किया था। उस समय भगवान गौतम बुद्ध के अनुसार धम्म/धर्म का अभिप्राय "धारेती'ति धम्मो" से था। अब धारण क्या करेगा, तो अत्तनो सभावं, अत्तनो लक्खनं, धारेती'ति धम्मो। यानी इस सृष्टि के अंदर जो भी है, वह अपने अंदर, अपने स्वभाव से, अपने लक्षण से जो कुछ भी धारण करता है, वह उसका धम्म/धर्म है या उसे ही धम्म/धर्म कहते हैं। यही धम्म/धर्म मनुष्य के अंदर विराजित राग और द्वेष के रूप में गुण, स्वभाव, लक्षण का पर्यायवाची माना जाता था। यह गुण सधम्म के रूप में सद्गुण का प्रतिनिधित्व करता था तो वहीं यह गुण अधम्म के रूप में अवगुण का प्रतिनिधित्व करता था। इसी सद्गुण और अवगुण वाली राग का चक्र और सद्गुण और अवगुण वाली द्वेष के चक्र से मनुष्य के मुक्ति का मार्ग धम्म चक्क पवत्तन है। इस गुणकारी धम्म/धर्म शब्द का इसके पूर्व लिखित साक्ष्य या अविष्कार भी नहीं हुआ था।

वस्तुतः धर्म और धम्म के लिखावट में सिर्फ भाषा-लिपि का अन्तर है। सम्यक संस्कृति के समय मौजूद पालि भाषा-लिपि में 'र' का संयुक्त प्रयोग नहीं होने की वजह से उस समय इसका लेखन धम्म/D'४ होता था, जो आज की संस्कारित भाषा में र का संयुक्त प्रयोग होने की वजह से अब यह धर्म लिखा जाता है। इसी 'धर्म' के ज्ञान पर सम्यक काल के समय भारत 1500 वर्ष तक विश्वगुरु था। जिसमें अनेक विश्व विख्यात विश्वविद्यालय थे। जहां देश-विदेश के लोग धर्म को समझने आते थे। वह कोई बौद्ध धर्म नही, बल्कि कुदरत का गुण, धर्म, स्वभाव यानी कुदरत के कानून (Law of Nature) को समझने आते थे। प्रकृति के अंदर अपना गुण, धर्म, स्वभाव होता है, लोग उसे ही धर्म कहते थे। जैसे आग का जलना धर्म है, बर्फ का शीतल होना धर्म है, गुस्सा होने पर व्याकुल होना धर्म है। अब कोई आग है और वह आग जले ही नही, बर्फ हो और वह बर्फ शीतल हो ही नहीं, कोई गुस्सा हो और वह व्यक्ति व्याकुल हो ही नहीं तो समझो सबका गुण-धर्म, स्वभाव खत्म है। ये सभी नकली गुण-धर्म, स्वभाव वाले हैं। यही तो गुण, स्वभाव और प्रकृति की रीत है जिसे धर्म कहते हैं।

धम्म और धर्म में कोई अंतर नहीं है, अंतर तो सम्यक काल और सम्यक अंत काल (सामंत काल) में इसके प्रयोग और भावार्थ का है। दोनों काल में इसका उपयोग अलग-अलग भावार्थ के साथ हुआ है। यही सबसे



बड़ा अन्तर है। जैसे सम्यक काल में धम्म/धर्म का प्रयोग कुदरत के कानून, कुदरत के गुण, स्वाभव (Law of Nature) के सम्बोधन के लिए किया जाता था तो सम्यक अंत के काल में इस धर्म/धम्म का प्रयोग भ्रमिक वंश द्वारा प्रत्यारोपित (Implant) भ्रम का पुलिंदा के लिए होने लगा। यह भ्रमवादी धर्म सम्प्रदाय, पंथ, मजहब, रिलीजन का पर्यायवाची है जिसको भ्रमिक लोगों के कलम कसाइयों ने धर्म/धम्म का पर्यायवाची खड़ा कर दिया है। भ्रमवादियों द्वारा प्रत्यारोपित संप्रदाय कुदरत का कानून नहीं है, प्रकृति की रीत नहीं है, स्वभाव नहीं है। इसी वजह से आज का धर्म किसी भी दृष्टिकोण से पूर्व के धर्म का पर्यायवाची नहीं है। सम्यक काल का धम्म/धर्म गुण-स्वाभाव कुदरत का प्रतिनिधित्व करने के कारण सभी का होता था जिस वजह से उस समय जितने भी विदेशी शासक आये, सभी सम्यक काल के धर्म में समाहित हो गये, लेकिन भ्रमवंशियों द्वारा स्थापित धर्म एक खास समूह वर्ग का होने के कारण इसके समय में जितने भी विदेशी शासक यहां आये, कोई भी इनके संप्रदाय में समाहित नहीं हुआ। क्योंकि–

सम्प्रदाय (संस्कारित शब्द) एक दर्शन है जो एक खास समाज विशेष का होता है, लेकिन धर्म सभी का होता है।

रिलीजन (अंग्रेजी शब्द) एक दर्शन है जो एक खास रीजन विशेष का होता है, लेकिन धर्म सभी का होता है।

मजहब (फारसी शब्द) एक दर्शन है जो एक खास मजलिस (सभा) विशेष का होता है, लेकिन धर्म सभी का होता है।

पंथ (पालि शब्द) एक दर्शन है जो एक साथ रहने वाले खास पथिक विशेष का होता है, लेकिन धर्म सभी का होता है।

लेकिन इस कलम कसाई को देखिए कि सम्यक काल वाले शुद्ध धर्म की जगह पर, सम्यक अंत काल वाले एक समुदाय विशेष द्वारा किया जाने वाला कर्मकाण्ड (सम्प्रदाय, मजहब, पंथ, रिलीजन) को ही धर्म का पर्यावाची बनाते हुए भ्रम का पुलिंदा के रूप में प्रत्यारोपित (Implant) कर दिया।

अध्यात्म

भारत लगभग 1500 वर्षों तक धर्म व अध्यात्म (धम्म 𑀥𑀫𑁆𑀫 व अज्झत्त 𑀅𑀚𑁆𑀛𑀢𑁆𑀢) का विद्याध्ययन करने कराने का बहुत बड़ा केन्द्र था, जिसकी वजह से इसे विश्वगुरु का दर्जा भी प्राप्त था। धर्म और अध्यात्म का पूरे विश्व में सबसे बड़ा विश्वविख्यात विद्याध्ययन केंद्र **'नालन्दा विश्वविद्यालय'** था, जिसमें धर्म और अध्यात्म का ज्ञान दिया जाता था।

इस धर्म व अध्यात्म में धर्म की व्याख्या आप लोगों ने देखी, परन्तु अध्यात्म क्या है और भ्रमिक लोग इसे क्या कहते हैं, इस पर भी गौर करें।

भारत की सम्यक संस्कृति में जिस प्रकार लोगों के कर्मकांड से अलग चेतन और अवचेतन वाले गुण, स्वभाव, नियम को ही 'धर्म' कहते थे, उसी प्रकार 'अध्यात्म' की भी अलग व्याख्या थी।

आइए जानते हैं अध्यात्म को..................

सम्यक काल के समय प्रयोग होने वाला शब्द **अज्झत्त** (𑀅𑀚𑁆𑀛𑀢𑁆𑀢) को संस्कारित करने के बाद ही भ्रमवंशियों ने अध्यात्म बनाया। पालि में अज्झत्त (अज्झ+अत्त) का अर्थ अपने भीतर यानी अत्त का अर्थ अपना और अज्झ का अर्थ अंदर होता है। यानी कि अध्यात्म का सम्पूर्ण अर्थ हुआ कि अपने शरीर के अंदर उस पूरी चैतसिक क्रिया को जानना, समझना और उसे अपना कर अपने शरीर की हर गतिविधि को समझना। यह शरीर जब किसी पर गुस्सा करता है तो व्याकुल क्यों होता है! यह शरीर जब किसी पर प्रसन्न होता है तो प्रफुल्लित क्यों होता है! यह शरीर जब दुखी होता है तो बेचैन क्यों होता है! यह शरीर जब सुखी होता है तो अमन-चैन से क्यों रहता है! इन्हीं सब प्रश्नों को जानने की विधि को अध्यात्म कहते थे।

लेकिन भारत की दुर्दशा नौंवी शताब्दी के बाद से उदित भ्रमिकों ने शुरु कर दी। प्रत्येक शब्दों को अपहृत करते हुए उसके भावार्थ को ही बदलना शुरू कर दिया था। भ्रमिक लोग पूर्व कालीन अध्यात्म में आत्मा और परमात्मा का समावेश करते हुए, इस प्रकार की पुस्तकों का पठन करने वाले को आध्यात्मिक बोलने लगे तथा आत्मा-परमात्मा से जुड़े कार्य या कर्मकाण्ड पर अधिक बल देने वाले को सबसे ज्यादा आध्यात्मिक कहने लगे। भ्रमिकों का भ्रम का पुलिंदा भी अलबेला है।

आत्मा

'आत्मा' शब्द भ्रमवादियों द्वारा प्रत्यारोपित आज की संस्कारित भाषा का शब्द है। यह शब्द सम्यक काल की भाषा-लिपि में नहीं मिलता है। इस वजह से सम्यक काल में आत्मा और परम-आत्मा का होना सम्भव ही नहीं है। फिर आज आत्मा और परमात्मा पर इतना भ्रम कैसा?

सम्यक संस्कृति के समय शिक्षा का प्रभाव उनके अपने समाज में ही नहीं, अपितु विदेशों में भी इनका काफी प्रचार प्रसार था, इस बात से तो आप सभी लोग सहमत होंगे। क्योंकि इस बात की पुष्टि के लिए सम्यक काल से प्राप्त अनेक शिक्षण संस्थानों के अवशेषों को आपने देखे होंगे। उन शिक्षण संस्थानों में कहीं भी आत्मा, परमात्मा की पढ़ाई नहीं होती थी। अगर उन शिक्षण संस्थानों में आत्मा, परमात्मा की पढ़ाई होती तो उसके दो प्रमाण आज जरूर मिलते। पहला प्रमाण तो यह मिलता कि उस पढ़ाई को पढ़ने वाले सभी देश के लोग आत्मा, परमात्मा को जरूर मानते। लेकिन आज उस पढ़ाई को पढ़ने वाले कई पड़ोसी देशों के लोग हैं जिनको आत्मा, परमात्मा के बारे में कोई जानकारी नहीं है। जबकि इन शिक्षण संस्थानों में पढ़ाई गई अन्य सभी जानकारी को वे लोग हू-ब-हू सहेज कर रखे हुए ही नहीं हैं, बल्कि दैनिक जीवन में प्रयोग भी करते हैं। यानी पहले पाठक के प्रमाण के अनुसार सम्यक काल के शिक्षण संस्थान में आत्मा, परमात्मा की कोई पढ़ाई नहीं होती थी। दूसरा प्रमाण, अगर सम्यक काल के शिक्षण संस्थान में आत्मा, परमात्मा का पठन-पाठन होता तो उससे जुड़ा हुआ कोई न कोई लिखित अभिलेख आज जरूर मिलना चाहिए था, लेकिन आज तक किसी भी उत्खनन से आत्मा, परमात्मा का कोई लिखित साक्ष्य नहीं मिला है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि सम्यक काल में आत्मा परमात्मा का कोई अस्तित्व नहीं था।

फिर सम्यक अंत (सामंत) युग में भ्रमवंशियों ने आत्मा पर भ्रम का पुलिंदा कहां से प्रत्यारोपित (Implant) किया है? इसके लिए आपको सम्यक काल की उसी शिक्षा को देखना होगा, जिस शिक्षा को पढ़कर आपके पड़ोसी देश वाले आपकी सम्यक परंपरा और कुदरत के कानून को बचाकर रखे

हुए हैं। उस शिक्षा में एक शब्द प्राप्त होता है, जिसका नाम 'अत्ता' और 'अनत्ता' है। जैसे—**अत्ता** ही अत्तनो नाथो, **अत्ता** ही अत्तनो गति।

हिन्दी अनुवाद—**आप** अपने स्वामी स्वयं हैं। आप अपनी गति (सुगति या दुर्गति) के जिम्मेवार भी स्वयं हैं।

सब्बे धम्मा **अनत्ता**'ति, यदा पञ्ञाय पस्सति। अथ निब्बिन्दति दुक्खे, एस मग्गो विसुद्धिया।

हिन्दी अनुवाद—सभी धर्म (पंच-खंद से बने शरीर का गुण, स्वभाव धर्म या अन्य किसी का गुण स्वभाव धर्म) अनात्म (कुछ भी शास्वत नहीं है, **अपना नहीं है**) है, जब कोई इसे प्रज्ञा से साक्षात्कार कर लेता है, तब उसे दुखों से विरक्ति होने लगती है। ऐसा ही है यह चित्त विशुद्धि का मार्ग।

अब यहां जो अत्ता का अर्थ संस्कारित भाषा में आप देख रहे हैं और वही अनत्ता का अर्थ संस्कारित भाषा में अर्थ (अपना नहीं है) देख रहे हैं। लेकिन भ्रमवंशी के कलम कसाइयों ने सभी जगह अत्ता को आत्म से प्रत्यारोपित कर दिया है और अनत्ता को अनात्म के स्वरूप में प्रत्यारोपित कर दिया है। फिर भी कोई इस आत्म को सही रूप से व्याख्या करेगा तो इस आत्म से आत्मसम्मान, आत्मगौरव, आत्मरक्षा, आत्म स्वाभिमान, आत्मसुख, आत्मदुख जैसे भाव का प्रकट होना दिखेगा, यानी आत्म का शुद्ध भाव अपना, स्व, खुद, self से है न कि कोई अदृश्य भ्रम का पुलिंदा होने से है।

पूजा

पूजा सम्यक काल की भाषा है, लेकिन आज भ्रम काल में कलम कसाइयों ने इसका भाव बदल दिया है। आज पूजा और प्रार्थना दोनों को एक दूसरे का पर्यायवाची बना दिया गया है। इसी वजह से पूजा आज इबादत का पर्यायवाची बन गया, पूजा आज प्रेयर (Prayer) का पर्यायवाची बन गया है। आज इस प्रकार के जितने भी लोग हैं, जो अपने-अपने कर्मकाण्ड और विधान के अनुसार अराधना करते हैं वैसे सभी लोग आज की भाषा अनुसार उसको पूजा करना कहते हैं; जबकि वह पूजा नहीं, बल्कि शुद्ध प्रार्थना का हिस्सा है।

सम्यक काल के पूजा का भाव आदर, सम्मान, अनुसरण करने से था, तो भ्रमकाल में पूजा/प्रार्थना का भाव मांगना, अनुरोध, याचना से है। अब दोनों का स्वरूप एक कैसे हो जाएगा? इसी पर आचार्य ओशो कहते हैं कि अगर किसी को किसी की प्रार्थना (याचना, मांगना, अनुरोध करना) करना ही है, तो वह जिन्दा व्यक्ति की पूजा करे, उसमें भी वैसा जिन्दा व्यक्ति, जो तुमसे बलशाली हो, शक्तिशाली हो, समृद्धशाली हो, ताकि तुम्हारे प्रार्थना से यदि वह खुश हो जाए तो तुमको वह कुछ लाभ दे सके। अन्यथा मृत व्यक्ति के सामने कोई बच्चा कितना भी करबद्ध प्रार्थना करे, लेकिन उस बच्चे को कभी दूध भी नहीं मिल सकता है।

आज इसी वजह से पूजा करने वालों में दो प्रकार के लोगों को देखा जा सकता है। एक, पूजा करने वाले वह लोग हैं जो किसी दृश्य या अदृश्य नाम के सामने अलौकिक शक्तियों का भण्डार मानकर पूजा करते हैं। ऐसे लोग जब भी पूजा करते हैं, तो उस अलौकिक शक्ति से अपनी बेहतरी की प्रार्थना, अनुरोध, याचना, अनुनय-विनय करते हैं। उस अलौकिक शक्ति से अपने या अपने परिवार की भलाई हेतु कोई मनौती मांगते हैं और उस मनौती को पूरा करने हेतु विभिन्न प्रकार के कर्मकाण्ड करते हैं। ऐसे लोग ऐसे कार्यों को पूजा करना कहते हैं/समझते हैं।

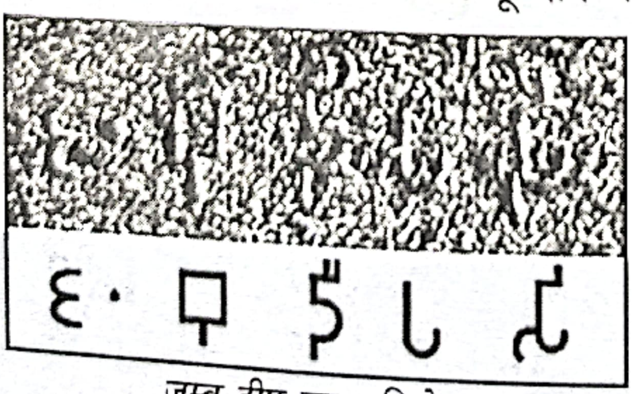
जबकि पूजा करने की प्रथा सम्यक काल में ऐसी नहीं थी। उस समय किसी दृश्य या अदृश्य नामों को किसी अलौकिक शक्तियों का भण्डार नहीं माना जाता था। इस वजह से पूजा का स्वरूप भी इनसे भिन्न था। उस समय लोग मार्गदाता की मूर्ति की पूजा करते थे तो उस पूजा में अपने आदर्श मार्गदाता द्वारा प्रदत्त शील, समाधि, प्रज्ञा के प्रति प्रेरणा बने, इसके लिए लोग पूजा करते थे। मार्गदाता द्वारा दी गयी शील, समाधि, प्रज्ञा अपने अन्दर दृढ़ निश्चय के साथ बैठे इसके लिए करते थे। मार्गदाता द्वारा प्रदत्त शील, समाधि, प्रज्ञा का ज्यादा से ज्यादा पालन करें, इसके लिए पूजा करते थे। उस पूजा में किसी चीज के मांगने की भावना ही नहीं थी।

आज भी पूजा का कुछ वैसा स्वरूप देखने को मिल जाएगा, जैसे पूज्यनीय गुरुजी, पूज्यनीय माताजी, पूज्यनीय पिताजी। यहां भी इनके आदर्शों की पूजा ही हो रही है, लेकिन आज सामंत काल में भ्रमवंशियों

द्वारा प्रतिपादित पूजा का नया भिखमंगन (मांगना) वाला भावार्थ ही सबसे ज्यादा प्रभावी हो गया है। क्योंकि सम्यक काल के समय पालि भाषा के अन्दर वर्तमान संज्ञा गुणवाचक अर्थों से परिपूर्ण होती थी, जिसे सम्यक अंत काल के भ्रमवंशियों ने संस्कारित भाषा के द्वारा उस गुणवाचक अर्थ को जातिवाचक, समूहवाचक, व्यक्तिवाचक, नामवाचक में परिवर्तित कर दिया है। यही भ्रमवंशियों द्वारा फैलाया गया भ्रम का पुलिंदा है।

जम्बू दीप (𑀚𑀁𑀩𑀼𑀤𑀻𑀧)

सम्राट अशोक को विरासत में मगध की राजगद्दी मिली थी। लेकिन सम्राट अशोक का जीवन धर्म-प्रिय, न्याय-प्रिय, जन-प्रिय, भिक्खु-संघ-प्रिय होने की वजह से उन्होंने अपने साम्राज्य की सीमा विश्व के सबसे बड़े भूभाग पर फैला ली थी। जिसकी वजह से सम्राट को प्रथम विश्व विजेता सम्राट भी कहा जाता है। सम्राट अपने मगध देश को **'जम्बू दीपसि'** देश के नाम से संबोधित करते थे और अपने अभिलेखों में जम्बू दीपसि (𑀚𑀁𑀩𑀼𑀤𑀻𑀧𑀲𑀺) भी लिखते थे। यहां एक बात को स्पष्ट कर दूं कि सम्यक संस्कृति में 'दीप' और 'पदीप' नाम के दो शब्द मिलते हैं। जिसमें दीप को द्वीप का पर्यायवाची बताते हुए समझाया गया है कि आप द्वीप के जैसा स्वयं से रोशन/प्रकाशित होना या स्वयं के ऊपर आश्रित होना होता है और पदीप का अर्थ दीपक/दीया होता है। यानी जम्बू दीप का अर्थ वह बहुत बड़ा भूभाग जहां के लोग स्वयं से रोशन होते थे या स्वयं पर आश्रित रहते थे। वे किसी दूसरे की शरण में नहीं जाते थे। वैसे जम्बू दीप की सीमा पूर्व में म्यानमार (बम्हन देश 𑀩𑁆𑀭𑀳𑁆𑀫 𑀤𑁂𑀲 /ब्रह्म देश/बर्मा देश) से लेकर पश्चिम में ईरान देश (अरिओ देश 𑀅𑀭𑀺𑀅𑁄 𑀤𑁂𑀲 /आर्य देश/आर्यन देश/ईरान देश) तक की सीमा को लगती थी तो उत्तर में तिब्बत (बोद देश/𑀩𑁄𑀤 𑀤𑁂𑀲) से लेकर दक्षिण में सिरी लंका (लंका 𑀮𑀁𑀓 /ताम्र पर्णी) तक जाती थी। जिसे सम्राट अशोक ने कई जगह अपने अभिलेख में जम्बू दिपो (जम्बू दिपसि /𑀚𑀁𑀩𑀼𑀤𑀻𑀧𑀲𑀺) से संबोधन करते हुए लिखवाएं भी हैं।



जम्बू दीप का अभिलेख

देवानाम प्रिये (देवानाम पिय 𑀤𑁂𑀯𑀸𑀦𑀁𑀧𑀺𑀬)

सम्राट अशोक को धर्म-प्रिय और संघ-प्रिय होने के कारण जनता उन्हें देवानाम प्रिये (𑀤𑁂𑀯𑀸𑀦𑀁𑀧𑀺𑀬) कह कर संबोधित करती थी। हालांकि यह शब्द आज काफी विवादास्पद बना हुआ है। भ्रमवंशी समुदाय का लेखक समूह देवानाम देखकर इसे आज वाले चामत्कारिक देवी-देवता से जोड़कर सम्राट अशोक को उसी अलौकिक देवी-देवता का प्यारा बताने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ते हैं। भ्रमवंशी लेखक कहते हैं कि सम्राट अशोक अलौकिक देवता के प्रिय थे इसलिए वे अपना नाम देवानाम प्रिय लिखते थे। जबकि उस समय अलौकिक देवी-देवता वाली ईश्वरीय सत्ता को स्थापित करने वाले का कोई साक्ष्य नहीं मिला है और न ही कहीं अभी तक किसी सम्राट के कार्यकाल में कोई ईश्वरीय सत्ता स्थापित करने वाला कोई समाज ही मिला है। अतः भ्रमवंशियों का आरोप निराधार है और यह सिर्फ भ्रम का पुलिंदा मात्र है।

वहीं कुछ लोग इसकी ऐसी भी व्याख्या करते हैं कि सम्राट अशोक भगवान बुद्ध को अपना प्रिय मानते थे, इसलिए भगवान बुद्ध को देवा बनाकर अपना नाम देवानाम प्रिय लिखते थे। अब बात यहां पर यह उठती है कि कोई व्यक्ति किसी का प्रिय तो तभी हो सकता है जब वह व्यक्ति जिन्दा हो, अन्यथा वह उसका प्रिय कैसे होगा? जैसे मान लो कि कोई पुत्र अपने पिता का लाड़ला/प्यारा है, लेकिन कब तब, जब तक कि उसका पिता जिन्दा है। जिस दिन उसके पिता की मृत्यु होती है उस दिन से उसकी लाड़ला (प्रिय) वाली उपाधि भूतकाल बन जाती है। अब लोग उसे कहने लगते हैं कि यह अपने पिता का बहुत लाड़ला (प्रिय) था। लेकिन सम्राट अशोक के साथ इन भूतकाल वाले वाक्यों का प्रयोग नहीं मिलता है। सम्राट अशोक स्वयं अपना नाम बहुत से अभिलेखों पर देवानाम पियदसी लिखते हैं। आखिर इसका रहस्य क्या है?

आइए इसका साक्ष्यों के साथ विश्लेषण करते हैं—

त्रिपिटक ग्रंथों में बुद्ध की त्रिरत्न (रतनत्तय) वन्दना है, जिसको यहां पर पालि में लिखते हुए हिन्दी अनुवाद करता हूं।

"इतिपि सो भगवा अरहं सम्मासम्बुद्धो विज्जाचरण सम्पन्नो सुगतो लोकविदू अनुत्तरो पुरिस-दम्म-सारथी सत्था देवमनुस्सानं बुद्धो भगवा'ति।"

ऐसे ही तो हैं वे भगवान, अरहत, सम्यक-सम्बुद्ध, विद्या तथा सदाचरण से सम्पन्न, उत्तम गति प्राप्त समस्त लोकों के ज्ञाता, सर्वश्रेष्ठ, भटके हुए को सही मार्ग पर लाने वाले सारथी, देवताओं और मनुष्यों के शास्ता (आचार्य) बुद्ध भगवान।

इस वंदना में आप लोगों ने गौर किया होगा कि पालि के शब्द में **"सत्था देवमनुस्सानं बुद्धो भगवा'ति"** जिसका हिन्दी अनुवाद—**देवताओं और मनुष्यों के आचार्य (शास्ता) भगवान** बुद्ध को बताया गया है। अब यह ध्यान देने वाली बात यह है कि सम्यक संस्कृति में देवता किसको कहा जाता था, जिसके कि गुरु या आचार्य भगवान बुद्ध होते थे?

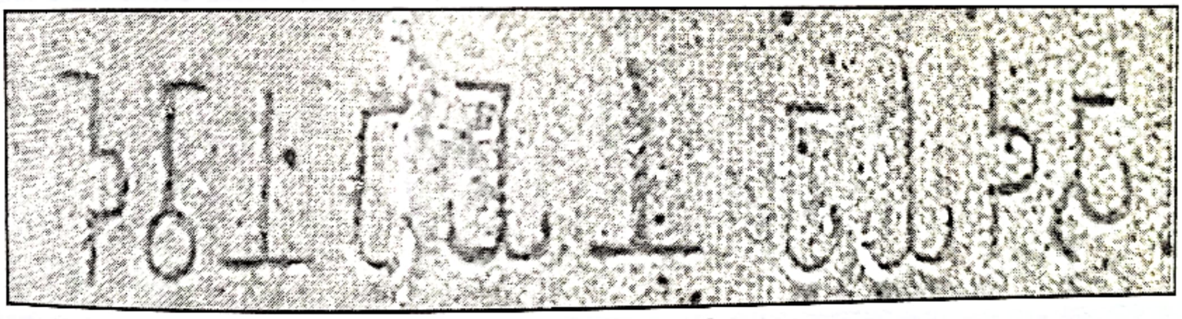
सम्यक संस्कृति में भगवान बुद्ध समग्र मानव समाज के गुरु थे और यह बात आज सर्वविदित है। इस पर टीका-टिप्पणी करना बिल्कुल भी उचित नहीं है। फिर भगवान बुद्ध की वंदना में देवा शब्द से किसको संबोधित किया जा रहा है, वह जो भगवान बुद्ध का शिष्य था?

इस बात का जब तार्किक विश्लेषण करेंगे तो पाएंगे कि सम्यक संस्कृति में भगवान बुद्ध के शिष्य उस समय के राजा-महाराजा के अलावा नगर और गांवों के सभी गृहस्थ मनुष्य के अलावा विशिष्ठ गुणों से भरपूर भिक्खु-संघ भी होता था। भिक्खु-संघ के सभी लोग भगवान बुद्ध को अपना शास्ता (आचार्य) मानते थे और उनके बताए ज्ञान के मार्ग पर चलते हुए, अपने आस-पास के सभी लोगों को भगवान बुद्ध के बताए रास्ते पर चलने को प्रेरित करते थे। भिक्खु-संघ में शीलों के पालन पर बहुत ही सख्त नियम बना हुआ था। जिस नियम पर पूरा एक ग्रन्थ ही बना हुआ है, जो त्रिपिटक का हिस्सा भी है। जिस ग्रन्थ का नाम विनय पिटक है। जिसमें नये भिक्खुओं हेतु आठ शीलों के पालन से जिन्दगी की शुरुआत होती है और नये भिक्खु और भिक्खुनियां जैसे-जैसे पुराने होते जाते हैं वैसे-वैसे अपने शीलों को बढ़ाते हुए अपने जीवन में तीन सौ से भी अधिक शीलों का पालन करने की आदत बना लेते हैं।

धम्म भिक्खु-संघ में कुछ भिक्खु या भिक्खुनियां अपनी साधना व ज्ञान से ऊपर अरहत की अवस्था प्राप्त कर लेते थे, जो भगवान बुद्ध के बताए मार्ग के अनुसार लोगों को धम्म देशना (प्रज्ञा शील समाधि के आष्टांगिक

मार्ग का उपदेश) देते थे। ऐसे सभी धम्म देशना देने वाले भिक्खुओं को देवा कह कर संवोधित किया जाता था। धम्म देशना देने वालों में भिक्खु और भिक्खुनी (पुरुष और महिला) दोनों होते थे, इसलिए उसमें भिक्खु को देवा और भिक्खुनी को देवी कहा जाता था।

धम्मिक सम्राट अशोक अपने कार्यकाल में धर्म प्रिये होने के कारण धम्मिक भिक्खु-संघ को सबसे ज्यादा प्यार करते थे, इसी वजह से सम्राट ने अपने पुत्र और पुत्री को भी धम्मिक संघ में शामिल करते हुए धम्म देशना के लिए समर्पित कर दिया था। इस वजह से उस समय सम्राट अशोक धम्मिक भिक्खु-संघ (देवा) के सबसे प्रिय धम्मिक सहयोगी सम्राट होने की वजह से लोग उन्हें पालि में 'देवानं पियेन पियदसी' (𑀤𑁂𑀯𑀸𑀦𑀁 𑀧𑀺𑀬𑁂𑀦 𑀧𑀺𑀬𑀤𑀲𑀻) (जिसका पालि में उच्चारण देवा नङ्ग पियेन पियदसी) अशोक के नाम से भी संबोधन करने लगे थे और उस नाम को सम्राट ने अपने व्यक्तिगत जीवन में भी उपयोग करते हुए अभिलेखों में लिखवाया था।



देवानाम का अभिलेख

ऐसे इस देवानाम पर सम्राट अशोक द्वारा स्पष्टीकरण किया हुआ एक अभिलेख सासाराम से मिला है, जिस पर सम्राट अशोक ने साफ-साफ लिखा है कि–

धम्म लिपि-पालि भाषा–(𑀲𑀯𑀙𑀮𑁂 𑀲𑀸𑀥𑀺𑀓𑁂 𑀏𑀢𑁂𑀦 𑀘 𑀅𑀁𑀢𑀮𑁂𑀦 𑀚𑀫𑁆𑀩𑀼𑀤𑀻𑀧𑀲𑀺 𑀅𑀁𑀫𑀺𑀲𑀸𑀤𑁂𑀯𑀸 𑀲𑀁𑀢 𑀫𑀼𑀦𑀺𑀲𑀸 : 𑀫𑀺𑀲𑀁𑀤𑁂𑀯 𑀓𑀚𑀸)

देवनागरी लिपि-पालि भाषा–सवछले साधिके एतेन च अंत लेन जम्बूदीपसि **अंमिसादेवा संत मुनिसा**। मिसंदेव कजा।

हिन्दी अनुवाद (नागरी लिपि-हिन्दी भाषा)–जब मैं संघ की संगति में आया इस समय तक जम्बूदीप में जो लोग भिक्खु-संघ (देवा) और शाक्य मुनि (गौतम बुद्ध) से नहीं जुड़े थे। उन्हें भिक्खु-संघ (देवा) से जोड़ा गया है।



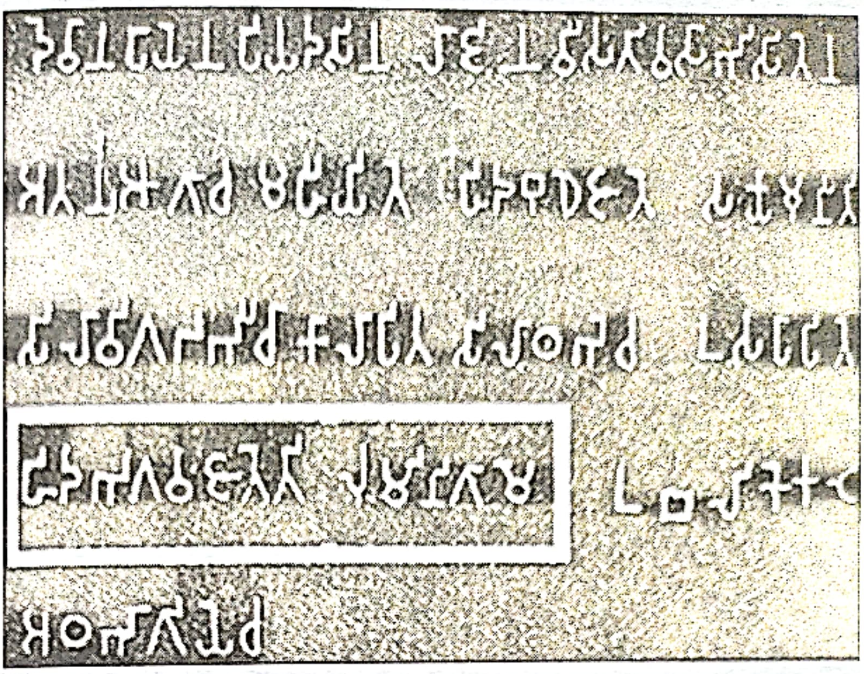
देवानाम का अभिलेख

सासाराम के इस लिखित अभिलेख से और बुद्ध वन्दना में देवा शब्द के संबोधन से स्पष्ट हो जाता है कि देवा शब्द का उपयोग धम्म देशना (उपदेश) देने वाले धम्मिक भिक्खु-संघ के वरिष्ठ सदस्यों के लिए किया जाता था। अब धम्मिक भिक्खु-संघ के सम्राट अशोक प्रिय थे, इस वजह से सम्राट अशोक को सभी लोग सम्यक संस्कृति वाली पालि भाषा द्वारा 'देवा नंग पिय' (पालि में अन्तिम शब्द के उपर अगर बिन्दी है तो उसे अंग की ध्वनि के साथ उच्चारण किया जाता है।) करते थे और उसी को हिदी में लोग 'देवा नाम प्रियेदसी' कहके संबोधन करते हैं।

हिद (𑀳𑀺𑀤)

हम सभी लोग इस स्थान या देश के नाम को हिंद स्थान से संबोधित करते हैं या इस नाम से जानते हैं, लेकिन इस हिंद नाम के शब्द का उद्भव कब और किसने किया, इसका कोई भी प्रामाणिक आधार नहीं मिलता है। वैसे इस हिंद नाम को स्थापित करने के लिए अभी तक जितने भी लोग आए हैं वे सभी लोग भ्रमवंशी लेखकों द्वारा लिखित गपोड़ कहानियों का सहारा लेते हैं, जो कहीं से भी पुरातात्विक दृष्टिकोण से सही नहीं लगता है। फिर इसका प्रयोग कैसे शुरू हुआ?

इसी खोज की कड़ी में सम्राट अशोक द्वारा लिखित लुम्बीनी से एक स्तंभ लेख मिला है, जिस पर धम्म लिपि में **हिद भगवं जातेति लुमिनि गामे** (𑀳𑀺𑀤 𑀪𑀕𑀯



लुम्बिनी का अभिलेख

ε ˉλλ ·Ψ8Ι ∧ Ψ) लिखा हुआ मिला है। यह 'हिद' प्राकृत भाषा के शब्द-कोष का शब्द है जिसका अर्थ 'यहां' या 'इस जगह पर' या 'इस स्थान पर' होता है। यानी जिस हिद शब्द का प्राकृत भाषा में सर्वनाम के तौर पर उपयोग होता था, वह आज भाषा के विकास क्रम कहें या भाषा के अर्थों का भ्रान्ति क्रम कहें, पूर्व के सम्यक अर्थों वाला यह हिद आज सर्वनाम से संज्ञा बन गया है। जिस वजह से आज हिद से हिंद बनकर एक क्षेत्र विशेष का प्रतिनिधित्व कर रहा है।

आर्य और अनार्य

सम्यक काल में यह शब्द गुणवाचक संज्ञा था, लेकिन इसी शब्द को सम्यक अंत काल में भ्रमवादियों ने जातिवाचक संज्ञा बना दिया है। इस वजह से सम्यक काल में यह गुणवाचक संबोधन किसी को भी उसके कार्यों के अनुसार किया जाता था। वहीं सम्यक अंत काल में इसका संबोधन जन्म के आधार पर जातिवाचक होने लगा था। इस आर्य-अनार्य शब्द की विस्तार से चर्चा इसी पुस्तक के अंत में की गयी है।

भारत की संस्कृति में ब्राह्मणवाद का उदय

850 ईस्वी पूर्व से लेकर ज्ञात काल तक के भारत में उत्खनन के द्वारा आज जो भी साक्ष्य मिले हैं वे भारतीय समाज में अमीर वर्ग और गरीब वर्ग को तरलता से परिभाषित करने वाले साक्ष्य हैं। तरल यानी कोई भी समूह, कोई भी परिवार या कोई भी वंश अपने कुशल नीति की वजह से गरीबी की अवस्था को छोड़कर अमीरी की अवस्था में पहुंच जाता था। यहां तक की

वह गरीब व्यक्ति अपने बुद्धि-कौशल से सम्राट भी बन जाता था और दूसरी ओर कोई भी अमीर परिवार समूह या वंश अपनी अकुशल नीति की वजह से सम्राट से अपदस्त भी हो जाता था या अमीरी से गरीबी के दलदल में आ जाता था। इस प्रकार के काफी साक्ष्य सहित उदाहरण भारतीय पुरातात्विक इतिहास में देखने को मिलते हैं। इनमें से अनेक सम्राटों के नाम तो इतिहास के पन्नों में दर्ज भी हैं। जिन सम्राटों के अनुयायी आज सदियों से गरीबी का दंश झेल रहें हैं। उन सभी सम्राटों के पूर्वज अपनी कुशलनीति की वजह से ही उस समय में समाज व देश का नेतृत्व किया था, लेकिन उनके बाद वाली पीढ़ी अपनी अकुशल नीति की वजह से सत्ताच्युत होते हुए अपने परिवार को गरीबी के अंधकार में जीते हुए कहीं गुम भी हो गए।

आप सभी पाठकगण इन सब तथ्यों को उस काल के सम्राटों के नामों के साथ जोड़कर देख व जान सकते हैं। ईसा से पूर्व हर्यंक वंश (छठी शताब्दी) के सम्राट बिम्बिसार अपनी कुशल नीति की वजह से सम्राट बने, लेकिन आगे उनकी पीढ़ी कहां और किस अवस्था में है, यह आज कोई नहीं बता सकता। इसी प्रकार सम्राट बिम्बिसार के बाद नाग वंश, नन्द वंश, मौर्य वंश, सातवाहन वंश, शुंग वंश, कण्व वंश, शक वंश, पहलव वंश, कुषाण वंश, गुप्त वंश, वर्धन वंश, पाल वंश के लोग अपने-अपने काल व समय में अपनी-अपनी कुशल नीति की वजह से सम्राट बनकर सत्ता के शीर्ष पर रहते हुए देश काल के सभी संसाधनों को अधिनायक रहे, लेकिन बाद के काल में इनके वंशज अपनी अकुशल नीति की वजह से सत्ता से च्युत होते हुए संसाधन विहीन होकर आम लोगों के साथ जिंदगी बिताते हुए कहां विलुप्त हो गए, यह आज कोई नहीं बता सकता है। उसी प्रकार देश के मार्गदाता सहित चार्वाक, मक्खलि गोसाल, निगंठ नाथपुत्त, पूरन कस्यप, अजित केसकम्बलि, पकुथ कच्चान, संजय बेलेट्ठी पुत्त, आलार कालाम, मोगलायन, सारिपुत्र, महाकास्यप, कात्यान, उपालि, नागसेन, मिलिन्द, नागार्जुन, शीलभद्र, धर्मपाल, चन्द्रपाल, गुणमति जैसे विद्वानों ने ज्ञान का मार्गदर्शन दिया, लेकिन आज उन सभी के वंशज कहां हैं, यह कोई बता नहीं सकता है।

तरल रूप से सामाजिक परिवर्तन का यह सिलसिला 850 ईस्वी के पूर्व से लेकर ज्ञात काल तक सभी वर्गों के लिए चलता रहा, लेकिन इसके

बाद के काल में सभी लोगों के लिए यह तरल सामाजिक परिवर्तन वाली स्थिति बंद होने की कगार पर आ गई थी। कारण इसके बाद वाले भारत की सभ्यता-संस्कृति में जबरदस्त समाजिक बदलाव देखने को मिलने लगा था। पूर्व के तरल वर्गीकरण से बदलने वाली भारतीय सभ्यता-संस्कृति ने अब ठोस वर्गीकरण की ओर कदम बढ़ाना शुरू कर दिया था। यानी 850 ईस्वी के बाद से पूर्व वाले गैर वर्णागत समाज अब वर्णागत समाज में रूपांतरित होते हुए वर्ण के खूंटे में बंधने लगा था। जिसका परिणाम यह हुआ कि कोई कितना भी गुणशाली व्यक्ति हो, कोई कितना भी बलशाली व्यक्ति हो या कोई कितना भी बेहतरीन कुशल नीति निर्धारक व्यक्ति हो, लेकिन अब वह वर्ण के खूंटे में बंध जाने के कारण कहीं का सम्राट नहीं बन सकता था। इसके बाद के काल में कोई कितना भी विद्वान व्यक्ति क्यों न हो, वह अपनी विद्वता के आधार पर समाज में विद्वान पुरुष की उपाधि प्राप्त नहीं कर सकता था। अब सभी विद्वान पद पर आसीन धूर्तों ने एक वर्ण का निर्माण करते हुए एक वर्ग विशेष के लिए विद्वान और एक वर्ग विशेष के लिए सम्राट वाले पद को सुरक्षित कर दिया था। जबकि इसके पूर्व वाली संस्कृति में कोई भी व्यक्ति मार्गदाता, कोई भी व्यक्ति किसी विषय का विद्वान, कोई भी व्यक्ति किसी पठन-पाठन संस्थान का आचार्य या कोई भी व्यक्ति किसी गणराज्य की सत्ता का संचालक (सम्राट) बन जाता था।

भारत की सम्यक संस्कृति में विद्वान व्यक्तियों हेतु एक गुणवाचक शब्द बम्हन मिलता है जिसकी चर्चा ऊपर में की गई है। वह बम्हन शब्द भाषा के विकास क्रम में विकास करते हुए मौर्य काल में सम्राट अशोक के अभिलेख में बाम्हन के रूप में मिला है और यही बाम्हन गुप्त काल में भाषा के विकास क्रम में बाभन के रूप में मिला है। मैंने ऊपर अभिलेख के साथ इसकी भी चर्चा की है। मौर्य काल और गुप्त काल में यह बाम्हन या बाभन शब्द शुद्ध रूप से गुणवाचक के रूप में संबोधित होता था, जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है।

सम्यक संस्कृति से भ्रामक संस्कृति (**जगत सत्या से जगत मिथ्या**) के प्रथम जन्मदाता आदि शंकर (ब्राह्मणों का प्रथम उदय है, आदि शंकर के वंशज आज जंघम ब्राह्मण बनकर बैठे हैं।) और उनके अनुयायियों ने तमाम प्रकार की भ्रामक (कर्मकाण्ड) बातों को स्थायित्व देने हेतु उस समय

के छोटे-बड़े रजवाड़ो या कबीला प्रमुखों को एक सामंतशील जाति स्वरूप का चोला पहना रखा था। अंततः इस मीठे-मीठे सामाजिक परिवर्तन का परिणाम यह हुआ कि 950 ईस्वी के बाद से भारतीय समाज का समाजिक ढाचा पूर्णतः वर्णागत रूप में परिवर्तित होते हुए ठोस आकार ले लिया था।

इस परिवर्तन का सारा श्रेय उस समय के धूर्त, ठग, भ्रमिक, धोखेबाज जैसे लोगों का था। उन सभी ने मिलकर पूर्व का जो गुणवाचक शब्द विद्वानों हेतु प्रयोग होता था, उस शब्द को अपनी जाति के नामाकरण हेतु उपयोग किया यानी उस समय के सभी धूर्त ठग भ्रमवंशियों ने उस गुणवाचक शब्द बाम्हन/बाभन को संस्कारित भाषा संस्कृत में ब्राह्मण करते हुए अपनी जाति नाम पर कर लिया। उसके बाद उस समय के सभी छोटे-छोटे सामंतों को अपनी भ्रम वाली काल्पनिक कहानी के जाल में फांसते हुए पूर्व के गुणवाचक शब्द लाजा पुत्त (सम्राट अशोक के अभिलेख पर लाजा का प्रयोग काफी जगह मिला है।) को संस्कारित करते हुए संस्कृत में राजा का पुत्र यानी राजपुत्र जाति का नामकरण करने लगे। इसका सबसे बड़ा प्रमाण भारत में राजपूत जाति की उत्पत्ति से है, जो उस समय से लेकर अभी तक वर्णागत स्थिति में 'क्षत्रिय' वर्ण का नेतृत्व करती आ रही है।

नोट—सम्यक संस्कृति का गुणवाचक शब्द बमन, बाभन, बाम्हन, जो उस समय केवल विद्वानों हेतु प्रयोग होता था। वह अब सम्यक अंत यानी सामंत/सामंती/ब्राह्मणवादी/भ्रमवादी संस्कृति का निर्माण करने वाले धूर्त व भ्रमिक वर्ग ने अपने जाति नाम से बांधते हुए, उसे जातिवाचक नाम बना दिया।

भ्रमवाद के उदय के बाद श्रमशील तकनीकी जातियों के कबीला प्रमुख, जो अब सामंत बन गये थे या ऊपर के भ्रमिक भाट स्वयंभू ब्राह्मण बनने वालों ने इन्हें अब राजा का पुत्र यानी राजपूत बनाते हुए वैसे सामंती राजवाड़ों से ठगकर मुफ्त में मिष्टान भोजन प्राप्त करने लगे थे, ये दोनों सामन्तवाद के कट्टर पोषक थे।

क्योंकि पहला राजपूत तकनीकी जातियों से लूटकर खाता था तो दूसरा भाट राजपूतों को मूर्ख बनाकर या राजपूतों को चने के झाड़ पर चढ़ाकर (क्षत्रिय, सूर्यवंशी, चन्द्रवंशी, रघुवंशी, यदुवंशी जैसे काल्पनिक पात्रों का वंशज बनाकर) अपना पेट भरता था।

इसके बाद भारत में जितने भी प्रकार के श्रमशील वाले कबीला या समूह थे, सभी को उनके श्रम तकनीक के नाम संबोधन अनुसार ठोस आकर देते हुए जातियों का निर्माण किया जाने लगा।

यह प्रामाणिक इतिहास है कि जातियों का निर्माण और उनका नामाकरण उनके तकनीकी पेशागत कौशल के आधार पर हुआ है। जो जो समूह अपने तकनीक का उपयोग करते हुए जो कार्य कर रहा था, आगे उसे उसके उसी तकनीकी नामरूप शब्द को जाति के बंधन में बांधा गया। भारत की सम्यक संस्कृति (नौवीं शताब्दी से पूर्व) में यह तकनीक संबोधन शब्द तरल स्वरूप में था, तथा भ्रामक और सामंती संस्कृति (दसवीं शताब्दी बाद) बनने के बाद से तकनीकी लोगों को ठोस नामकरण स्वरूप में बांधना शुरू कर दिया गया था।

आइए जानें कि जाति का नामकरण कैसे हुआ–

जैसे–कोई तकनीकी रूप से फूल बागवानी का जानकार था, तो फूल-पौधे लगाए और माली, सैनी, फुले कहलाये।

कोई तकनीकी रूप से पशु पालने का जानकार था, तो पशु पालन का कार्य किया और पशुपालक अहीर, ग्वाला, धनगर, गड़ेरिया कहलाया।

कोई तकनीकी तौर पर खेती करने का जानकार था, तो उसने खेती की और खेती करने वाली जाति समूह कम्मा, कापू, कुटुम्बी, रेड्डी, कुड़मी, कुणबी, कुर्मी, लोध, गूजर, जाट कहलाया।

कोई तकनीकी तौर पर कारीगरी का जानकार था, तो वह लोहा, लकड़ी, मिट्टी का बर्तन और चमड़े का सामान बनाने वाला कारीगर बना, और क्रमशः लोहार, काष्ठकार, कुम्भकार और चर्मकार कहलाया।

कोई तकनीकी तौर पर तेल निकालने का जानकार था, तो उसने तेल निकालने का कार्य किया और तेली कहलाया।

इसी प्रकार अन्य सभी जातियों का नामकरण ऐसे ही तकनीकी कौशल नाम के आधार पर हुआ था।

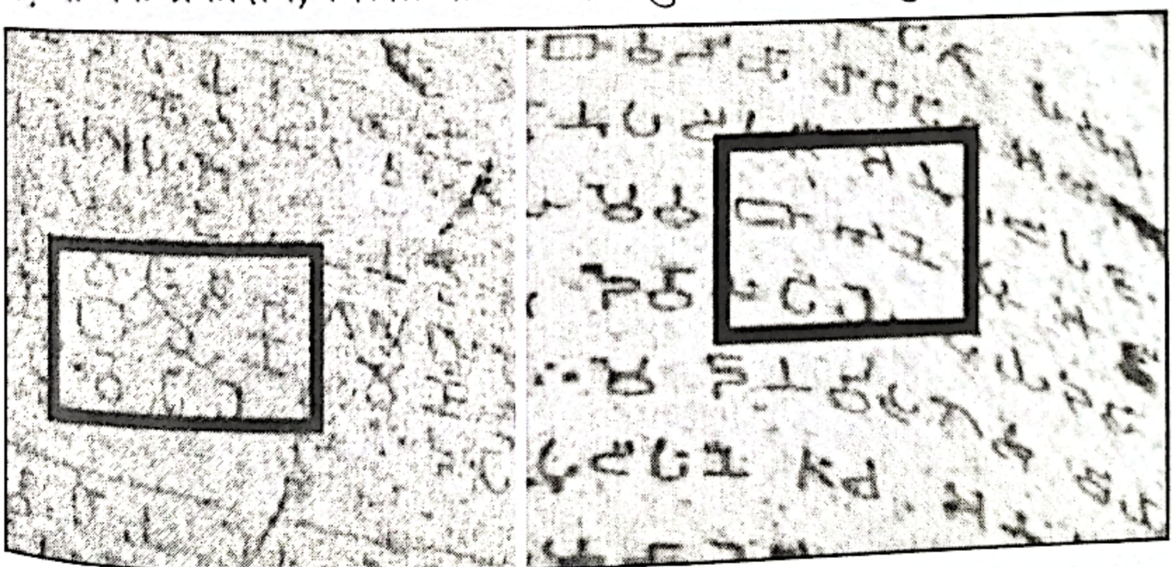
सामन्तवाद के उदय के बाद सबसे पहला गूजर प्रतिहार नाम का पश्चिमी भूभाग पर एक कबीलाई शासक था, जिसको भ्रमशीलों (भाटों) ने अपने

गिरफ्त में लेकर उसे राजपूत बनाया था, लेकिन उस गूजर कबीला के शेष लोग आज भी अपनी मूल गूजर जाति के नाम से जाने जाते हैं और ये लोग आज भी खेती या पशुपालन करने वाली जाति से संबोधित होकर अपना जीवन-यापन कर रहे हैं। इसके बाद कछवाहों का राजा कछवाहा राजपूत बना, लेकिन कछवाहों की जाति आज भी सैनी, मौर्य, कुशवाहा के नाम से पहचान बनाये हुए है। आदिवासी समूह का राजा प्रताप धवल था जो स्वयं आदिवासी था, लेकिन राजा होने के नाते उसको भी भ्रमशील भाटों ने चने के झाड़ पर चढ़ाते हुए राजपूत बना दिया (स्त्रोत–फ्रांसिस बुकानन द्वारा डिस्ट्रिक ऑफ शाहाबाद 1812-13)। गोंड आदिवासियों के गोंड राजा, आज चंदेल वंशी राजपूत बनकर गोंडो के जल जंगल जमीन पर ही कब्जा किए जा रहे हैं। राजा आल्हा-ऊदल विन्ध क्षेत्र के राजा थे जो बनाफार जाति से थे, लेकिन राजा होने के नाते भाटों की गिद्ध दृष्टि उन पर भी टिकी थी, तो राजा आल्हा को भी भाटों ने राजपूत बना दिया, लेकिन उनके कबीले वाले आज भी बनाफर जाति में ही हैं। राजा सुहेल देव, मिरात-ए-मसूदी के मुताबिक 'भर थारू' (पासी) समुदाय से श्रावस्ती के राजा थे, जो भाटों के भ्रम में फंसकर राजपूत बने। राजा गोहिल वंश (पासवान जाति) गहलौत राजपूत बना, अभीर (अहीर जाति) और सिंधिया (कुणबी) ऐसे न जाने कितने अमीर कबीलों के सरदारों को भाटों ने सामंतवादी व्यवस्था में राजपूत बनाया था। (कुछ अपवाद को छोड़कर, क्योंकि वैसे लोग सामन्तवाद के विरुद्ध लड़ाई लड़ रहे थे।) बाकी कबीले वाले जो अपने तकनीकी कौशल के सहारे जीवकोपार्जन कर रहे थे, वे सभी लोग भाट और राजपूतों के अनुसार तकनीकी जाति के नाम से आज भी पहचान बनाए हुए हैं। लेकिन आज इन परिवर्तित सामंती जातियों को कुछ लोग विदेशी कह कर भ्रम का पुलिंदा बनाये हुए हैं।

उसके बाद के भारत में जितने भी प्रकार के तथाकथित भ्रामक विद्वान (शंकर, जैमिनी, कुमारिल भट्ट, रामानुज, माधव आदि) हुए, उन सभी ने अपनी धूर्त और भ्रामक विद्वता के अनुसार अपने आपको भ्रामक वर्ण की श्रेणी का निर्धारण करते हुए अपने परिवार सहित सभी को 'ब्राह्मण' जाति-वर्ण में समाहित कर लिया था। ऐसी धारणा या मान्यता उस समय सभी लोगों के अन्दर बैठ गयी थी, जिसका परिणाम यह हुआ कि उसके

बाद से जितने भी शासक हुए वे या तो क्षत्रिय वर्ण के हुए या किसी कारण से गैर-ब्राह्मण या गैर-क्षत्रिय वर्ण बन गए तो क्षत्रिय बनने को आतुर रहने लगे थे। यानी अब सम्राट जो भी बनेगा वह क्षत्रिय वर्ण का या ब्राह्मण वर्ण का होना आवश्यक हो गया था।

भारतीय ज्ञात इतिहास (सम्यक संस्कृति) में मेगास्थनीज के अनुसार समाज का प्रथम वर्ग विद्वान वर्ग होता था, जो कोई भी किसी कबीला या तकनीकी परिवार का सदस्य बनता था। उसी विद्वान व्यक्ति को मेगास्थनीज के अनुसार उस समय बमन कहा जाता था। जिसका वर्णन सम्राट अशोक ने अपने अभिलेख के द्वारा **बाम्हन** (𑀩𑀸𑀫𑁆𑀳𑀦) से संबोधित किया है। यही पालि का बाम्हन शब्द भाषा के विकास क्रम में **बाभने** (𑀩𑀸𑀪𑀦𑁂) (मौर्य काल और गुप्त काल को देखें) बना और यही बाभन सामंत काल में पालि भाषा को संस्कारित करते हुए संस्कृत में ब्राह्मण में परिवर्तित होकर विद्वान वर्ग का पर्यायवाची बन गया था। उस समय तक यह शब्द गुणवाचक संज्ञा था। जिस गुणवाचक संज्ञा को गाल बजाकर या भ्रम पैदा करके मुफ्त का भोजन करने वाले भाटों (भ्रमशीलों) ने नौवीं शताब्दी के बाद जाति निर्माण में अपने समूह/जाति के नाम का संज्ञा नाम कर लिया। (ज्यादा जानकारी हेतु पढ़ें सम्यक प्रकाशन, दिल्ली से प्रकाशित पुस्तक 'वैदिक युग का घालमेल')



इसी गपोड़ (झूठी) श्रेष्ठता के दंभ का परिणाम यह हुआ कि पूर्व काल की सम्यक समाज संचालन हेतु बनी जितनी भी ज्ञान स्थली थी, पूर्व से स्थापित सभी सम्यक संस्कृति वाले बुद्ध विहार थे, संघाराम थे, सम्राट अशोक द्वारा निर्मित हजारों चैत्य और स्तंभ के अलावा जो भी निशानियां थीं, वे सभी इन धूर्त भ्रमशील वर्णागत वालों की नजरों में चुभने लगे थे।

जिसका परिणाम आज आपके सामने है। भारत में पूर्व काल से चली आ रही सभी सम्यक ज्ञान स्थली और सम्यक अराध्य पीठों को इन धूर्तों ने अपनी कुटिल और विध्वंशक नीति में रुकावट बनते देख दूसरे (मुगल) के कंधे पर बन्दूक रखते हुए नष्ट करवाने लगे। जिसका परिणाम भारत में पूर्व कालीन एक से बढ़कर एक विश्वविख्यात शिक्षण संस्थान के साथ-साथ पूर्व की सभी सम्यक ज्ञान वाली पुस्तकों को नष्ट करवाना शुरू कर दिया था। शायद आप सभी पाठक गण को 'दूसरे के कंधों पर बन्दूक' रखने वाली बात अटपटी लगे, लेकिन क्या कभी आप लोगों ने इस विषय पर चिंतन-मंथन किया है? हां या नहीं? अगर हां, तो यह सब कैसे हुआ अथवा नहीं तो, इस बात पर क्या कभी ध्यान दिया है! अभी तक भारत की सभी शैक्षणिक पुस्तकों (NCERT) द्वारा इस बात की पुख्ता जानकारी से अवगत कराया जाता है कि भारत में मुगल सिर्फ ब्राह्मणी ग्रंथों और ब्राह्मणी (हिन्दू) अनुयायियों से नफरत करते हुए उन सभी का जबरदस्त आर्थिक और मानसिक दोहन करता था, इसलिए मुगल हिन्दुओं का कट्टर दुश्मन है। लेकिन आज तक यह किसी ने भी नहीं सोचा कि हिन्दुओं के लिए इतना नुकसान करने वाला मुस्लिम शासक हो और उस आतंकी शासक का भारत पर एकछत्र 500 वर्षों तक राज हो, फिर भी भारत में ब्राह्मणी साहित्य और ब्राह्मणों द्वारा स्थापित प्रमुख अराध्य स्थल सुरक्षित हों! लेकिन पूर्व काल के सभी सम्यक ग्रंथ, सम्यक स्थल और सम्यक शिक्षण संस्थान नष्ट हो जाएं! आज भारत में खोजने पर भी सम्यक काल का कोई एक भी ग्रन्थ या उसकी छोटी प्रति भी नहीं मिलती है, लेकिन वहीं दूसरी ओर भारत में ब्राह्मणी स्थल से लेकर ब्राह्मणी ग्रंथों का बहुत ही विशाल भंडार का लेखन मुस्लिम काल के समय होना अपने आप में संदेह को जन्म देता है। धूर्तों का मुख्य लक्ष्य यह था कि पूर्व काल के सभी सम्यक ज्ञानपरक विचारधारा को खत्म करते हुए यहां के बहुसंख्यक लोगों को लम्बे समय तक अंधकार वाले ज्ञान की कोठरी में रखना और जब ये लोग इस अंधेरे के आदी हो जाएं तो अपनी काल्पनिक वैदिक वर्णागत समाज को प्रतिस्थापित करते हुए इस वैदिक कर्मकांड के अंदर व्याप्त सभी ग्रंथों को असंख्य वर्ष पूर्व का सत्यापित करते हुए इन सभी बहुसंख्यक वर्गों के दिलो-दिमाग पर बैठा देना। इस कार्य में धूर्तों ने मुगलों से सहयोग लेते हुए विजय प्राप्त कर

ली है। उसी का परिणाम है कि आज बगैर पुरातात्विक साक्ष्य के ही इस काल्पनिक ब्राह्मणी वैदिक काल की छाप भारत के लोगों के मानस पटल पर स्थापित हो गयी है।

इन्हीं धूर्त वर्णागत भ्रमशीलों द्वारा 950 ईस्वी के बाद से भारत में रहे भिन्न-भिन्न कुल-वंशों के सम्राटों को अब राजपूत बनाते हुए क्षत्रिय वर्ण की उपाधि से नवाजना शुरू कर दिया गया था। इन नव निर्मित क्षत्रियों के गुणगान में धूर्त भ्रमशीलों ने काल्पनिक काव्य रचनाओं के पात्रों से जोड़ते हुए उन सभी को उसका वंशज बनाते हुए अपने वश में कर लिया था। इसके पहले भारत में राजपूत जाति का कोई भी साक्ष्य नहीं मिलता है। इसके बाद से समस्त भारत के अंदर एक दूसरा संदेश भी प्रचारित होने लगा था कि गैर-क्षत्रिय जाति-वर्ण से कोई कितना भी कुशल नीति-निर्धारणकर्ता बन जाये लेकिन वह शासक नहीं बन सकता है। वह गैर-क्षत्रिय जाति-वर्ण में ही रहेगा और कोई क्षत्रिय वर्ण का शासक अपनी अकुशल नीति की वजह से सत्ताच्युत होते हुए किसी का गुलाम, अर्दली, सेनापति या कुछ भी बन जाये, फिर भी वह पीढ़ी-दर-पीढ़ी राजपूत (क्षत्रिय) ही कहलायेगा।

भारतीय समाज में इन्हीं सब परिवर्तनों का परिणाम हुआ कि राज सत्ता व्यवस्था धूर्त भ्रमशीलों और अकुशल मुर्ख राजाओं के हाथों का खिलौना बनकर रह गयी। गैर-क्षत्रिय जो नीति-निपुण और कुशल व्यवस्थापक थे, वे लोग इस सत्ता की दौड़ से दूर रहने लगे। अंततः बहुसंख्यक वर्गों के दिलो-दिमाग पर वर्णागत वाली बात बैठती चली गयी कि भारतीय सत्ता व्यवस्था में कोई कितना भी बलशाली और कुशल नेतृत्वकर्ता के साथ-साथ कुशल नीति-निर्धारक बन जाए फिर भी वह शासक नहीं बन सकता है। धूर्तों ने इस बात को लोगों के मानस पटल पर पत्थर की लकीर की तरह बैठाने के लिए सम्यक काल वाले सभी साक्ष्य, यानी 850 ईस्वी से पूर्व काल के रहे सभी सम्राटों वाले इतिहास को मुगलों से मिलकर विखंडित करते हुए अपने एक नए काल्पनिक इतिहास रामायण, महाभारत, पुराण जैसी अनेक अप्रामाणिक कथाओं को सतयुग, त्रेतायुग और द्वापरयुग काल का कहते हुए स्थापित कर दिये थे। जिस वजह से बहुसंख्यक वर्ग के अशिक्षित लोग इनके झांसे में आ गए। अब भारत की सभ्यता संस्कृति में विद्वान बनाने की होड़ और सम्राट बनने के दौड़ दो ही वर्णों की बपौती बनकर रह गई

थी। बहुसंख्यक वर्गों के अंदर की योग्यता कुंद होते हुए इससे दूर होते हुए अंततः विलुप्त ही हो गयी।

अब भारतीय सत्ता-व्यवस्था का दारोमदार दो वर्णों पर केंद्रित होकर रह गया था। बाकी के वर्णागत समाज के दिलो-दिमाग पर यह बात बैठा दी गयी थी कि आप लोग कभी विद्वान या सम्राट नहीं बन सकते हैं। भारतीय सभ्यता अब ब्राह्मणी संस्कृति द्वारा निर्मित ईश्वरीय भाग्य, भूत और अलौकिक भगवान की दया पर निर्भर हो गयी थी। इस नए भाग्य, भूत और अलौकिक शक्ति वाले भगवान के सहारे धूर्तों ने बहुसंख्यक लोगों को पूर्व जन्म में किए गए कर्मों के प्रायश्चित हेतु, इस जन्म में उच्च वर्णों की सेवा कर्त्तव्यों द्वारा मुक्ति पाने का दिशा-निर्देश देना शुरू कर दिया। इस तरह भोले-भाले बहुसंख्यक लोग निश्छल भाव से धूर्त बुद्धिजीविओं को अपना हमदर्द और मार्गदर्शक समझते हुए उनके द्वारा बताये मार्गों पर चलने लगे थे।

भारतीय सत्ता अब पूर्ण तौर पर धूर्त वर्ण और लूट वर्ण के अधीन समाहित हो गयी थी। लेकिन इन दोनों की अकुशल नीति की वजह से कुछ ही वर्षों में इन सभी के बीच द्वंद्वयुद्ध और नकारात्मक सोच का निर्माण होने लगा था, जिसके फलस्वरूप ये लोग बाहरी शक्तियों से मदद लेते हुए एक दूसरे से अपनी पुरानी अदावत (वैर) को पूरा करने लगे। इसी पर एक बहुत ही प्रचलित कहावत मशहूर है कि 'यम का डर नहीं होता है, बल्कि उस यम को आदत लगने का डर सबसे ज्यादा होता है'। आखिर हुआ भी ऐसा ही! भारत में इन दोनों वर्णों की अकुशल सोच की वजह से बाहरी तत्वों का आना-जाना और यहां पर एक दूसरे के विरोधी कर्मकांड स्थल या सत्ता शासन क्षेत्र से लूट कर धन ले जाने का सिलसिला बराबर होने लगा। इसी पर एक दूसरी कहावत भी सटीक बैठती है कि "कुत्ते को एक बार खून का स्वाद लग जाने पर वह बहुत ही खतरनाक हो जाता है और आगे उसे वह बार-बार प्राप्त करना चाहता है।" भारत के साथ धूर्त वर्ण और लूट वर्ण के कार्यकाल में हुआ भी ऐसा ही! बाहरी शक्तियों को इसके बाद कुछ ऐसा ही महसूस होने लगा कि इन धूर्त अर्दली और डरपोक शासकों के इशारों पर जब हम कुछ दिनों के लिए भारत आते हैं तो यहां से अथाह स्वर्ण मुद्राएं सहित हीरे जवाहरात प्राप्त होता है, अगर

यहीं पर आकर अपनी शासन सत्ता को स्थापित कर लिया जाये तो कितना धन वैभव प्राप्त होगा?

भारतीय सत्ता अब इन धूर्त अर्दली और डरपोक क्षत्रियों से निकलकर धीरे-धीरे विदेशी मुस्लिम आक्रमणकारियों के हाथों में स्थान्तरित होने लगी थी, जो मात्र कुछ सौ वर्षों के अन्तराल में ही कुछ डरपोक क्षत्रियों ने अपनी कायरता से, तो कुछ क्षत्रियों ने मूर्खता से विदेशी तुर्क मुगलों के हाथों में पूर्ण रूपेण अपनी सत्ता सौप दी थी।

इन सभी बातों को आप साक्ष्यों के साथ 'बुद्धिजीवियों का षड्यंत्र' पुस्तक में और अपनी स्वयं की अनुभूति से देख जांच सकते हैं।

भारत में ब्राह्मणी व्यवस्था और उसके ग्रंथों का उद्भवकाल

भारतीय संस्कृति में सामाजिक और सांस्कृतिक विषमता का उद्भव ब्राह्मणी ग्रंथों द्वारा प्रस्फुटित ज्ञान की भावना है। इन ग्रंथों में आर्य-अनार्य की बात हो या छूत-अछूत वाले बदबुदार समाज की चर्चा हो या वर्णागत ऊंच-नीच पर बने हुए सतयुग, द्वापरयुग, त्रेतायुग की काल्पनिक भारतीय संस्कृति की बनावट वाली बात हो या जातिगत बनावट वाली बात हो, इन सभी बातों की चर्चा सिर्फ ब्राह्मणी ग्रंथों में मिलती है। अन्यथा कई हजार वर्षों वाली भारतीय सभ्यता के असंख्य साक्ष्य और प्रमाण आज उत्खनन में मिले हैं, लेकिन किसी भी साक्ष्य में ऐसी कोई भी सभ्यता-संस्कृति नहीं मिली है। फिर भी आज कहा जाता है कि ब्राह्मणी वैदिक संस्कृति में ऊंच-नीच, जाति-पांति से युक्त छुआ-छूत वाला वर्णागत समाज भारत में पूर्व काल से स्थापित था?

अब प्रश्न उठता है कि इस ब्राह्मण जाति, वर्ण की उत्पत्ति का मुख्य काल केन्द्र और इनकी उत्पत्ति के मुख्य कारण क्या हैं?

आइये इन सभी कारणों को साक्ष्यों और प्रमाणों के आधार पर विश्लेषित करते हैं।

सर्वप्रथम भारत में ईसा पूर्व वाले प्राप्त ज्ञात और अज्ञात सभ्यता पर 'वैदिक युग का घालमेल' में काफी विस्तार से चर्चा की गयी है, जिसको आप लोगों ने पढ़ा ही होगा। वह सभ्यता भारत की शुद्ध बौद्धिक सभ्यता थी, जिसके काफी साक्ष्य आप लोग भारत के किसी भी

संग्रहालय में जाकर देखे होंगे अथवा जाकर देख सकते हैं। वहां यह सब साक्ष्य सुरक्षित रखे हैं। इन सभी साक्ष्यों के बीच कोई भी ब्राह्मणी वैदिक परम्परा का साक्ष्य आपको नहीं दिखेगा। फिर भी आज ब्राह्मणी वैदिक ऊंच-नीच, जाति-पांति से युक्त छुआ-छूत वाली वर्णागत संरचना दिखती है तो यह निश्चित ही ईस्वी सन् के बाद में किसी समय की उत्पन्न सभ्यता रही होगी!

आइये ईस्वी सन् के बाद की सभ्यता पर भी गौर करते हैं। ईस्वी सन के बाद के काल की सभ्यता में कुषाण और गुप्त शासकों का बहुत ही ज्यादा योगदान और प्रभाव रहा है। इनसे जुड़ी हुई या इनके द्वारा लिखी गई या इनके द्वारा लिखवाए गए आज अनेक साक्ष्य युक्त अभिलेखों को देखा और पढ़ा जा सकता है। लेकिन इन सम्राटों के काल-खंड में भी वैदिक या ब्राह्मणी परम्परा की कहीं ऊंच-नीच, जाति-पांति से युक्त छुआ-छूत वाले वर्णागत परंपरा की कोई लिखावट या संस्कृति का साक्ष्य नहीं मिलता है। ईसा बाद ब्राह्मणी वैदिक परम्परा को जानने-समझने का सबसे मजबूत आधार हैं उस समय के सांस्कृतिक विरासत के ऊपर शोध करने वाले अनेक शिक्षण संस्थान जैसे स्थापित विश्वविद्यालय की संस्थाएं। उन सभी शिक्षण संस्थानों में सभी प्रकार की ज्ञान वाली सभ्यता-संस्कृति पर अनेक शोध होते रहते थे। आज आप उन सभी शिक्षण संस्थानों की सभ्यता-संस्कृति को नजदीक से देख सकते हैं। उन शिक्षण संस्थानों में उस समय के भारत में आध्यात्मिक और सांस्कृतिक विरासत के ऊपर अनेक भाष्य लिखते हुए कई हजार आचार्य और कई लाख विद्यार्थी विद्याध्ययन करने में लगे रहते थे, लेकिन आज उत्खनन से प्राप्त किसी भी विश्वविद्यालय से कोई भी वैदिक या ब्राह्मणी ग्रंथों का साक्ष्य प्राप्त नहीं हुआ। आखिर पूर्व काल की यह कैसी वैदिक ज्ञान की परम्परा थी जो ज्ञान स्थली तक पहुंच ही नहीं पायी? यानी कि यह ब्राह्मणी वैदिक ज्ञान वाली संस्कृति ईसा बाद की विश्वविख्यात ज्ञान स्थली के समय में भी नहीं थी। तब तो निश्चित ही यह ब्राह्मणी वैदिक ऊंच-नीच, जाति-पांति से युक्त छुआ-छूत वाली वर्णागत संस्कृति गुप्त काल और भारतीय शिक्षण संस्थानों के बाद की संस्कृति रही होगी।

आइये उसके बाद की सभ्यता-संस्कृति को देखते हैं।

भारत में इस काल खंड तक अनेक विदेशी यात्री भी शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से भारत की यात्रा पर आ गए थे। उन सभी के द्वारा भारत में शिक्षा प्राप्त करने और भारत के सामाजिक बनावट को देखते हुए सांस्कृतिक वातावरण पर अनेक लिपिबद्ध पुस्तकें आज भी साक्ष्य के तौर विद्मान हैं। लेकिन अफसोस किसी ने भी भारत की सांस्कृतिक बनावट को वैदिक या ब्राह्मणी वर्णागत संस्कृति के रूप में नहीं देखा था।

आइये इस विषय को गौर से विश्लेषित करते हैं!

भारत में सम्राट हर्षवर्धन (सातवीं शताब्दी) के काल तक की बौद्धिक सभ्यता संस्कृति मिलती है और इसमें किसी भी ब्राह्मणी मत और वर्णागत या जातिगत समाज की संरचना का साक्ष्य नहीं मिलता है। सभी एक दूसरे के साथ समानता वाले वातावरण में रहते हुए स्वेच्छा से भिन्न-भिन्न प्रकार के जीवकोपार्जन कार्य करते रहते थे। कोई भी परिवार-समाज किसी के अधीन (शरण में) नहीं होकर स्वतंत्र रूप से अपनी बुद्धि के शरण में रहता था। अपने स्वविवेक से लोग किसी भी प्रकार के जीवकोपार्जन वाले कार्यों को अपना सकते थे। देश का कोई भी नागरिक अपने बुद्धि और विवेक के ऊपर बुद्ध-संघ का सदस्य बन जाता था। भारत में इस काल तक हर शिक्षण संस्थान में सभी लोगों को विद्याध्ययन हेतु स्वतंत्रता थी, वह पढ़े या नहीं पढ़े इस बात की जिम्मेदारी पढ़ने वाले की इच्छा पर निर्भर करती थी। उन सभी विद्याध्यन संस्थानों में इस तथ्य पर बहुत ही जोर दिया जाता था कि अपने साढ़े तीन हाथ की काया के अंदर वाली वेदना (पूर्व की भाषा पालि में वेदना का अर्थ अनुभूति होता था) को जानते हुए, अपने अंदर वाले स्ववेदन (अपना अनुभव) से ज्ञान प्राप्त करते हुए उस ज्ञान से लोगों को प्रभावित करना। साथ में आत्म अध्ययन की शिक्षा भी दी जाती थी। इसी वेदना और स्व-अध्ययन से लोग अपने दुखों से मुक्त होते हुए अन्य लोगों को भी इस वेदना वाली निर्मल समाधि और अध्ययात्म से परिचित कराते हुए लोगों के दुःखों को दूर करने का मार्ग प्रशस्त करते थे।

लेकिन सम्राट हर्षवर्द्धन के बाद सम्राट पाल वंश के समय में इस निर्मल समाधि और स्ववेदन के आधार पर जगाने वाले ज्ञान में वज्रयान सांघिक मतों का प्रभाव ज्यादा होने लगा था। पाल वंश के समय इसी वज्रयान

सांघिक संघ को मजबूती प्रदान करने हेतु 'विक्रमशीला विश्वविद्यालय' का स्थापना की गई थी। अब पूर्व की निर्मल समाधि साधना के स्थान पर विक्रमशीला विश्वविद्यालय में वज्रयानी शोध द्वारा लोगों को अपने वश में करने हेतु शब्दों की टंकार (मंत्र) **'ओम मणि पद्मे हूम'** जैसे ध्वनि वाले मंत्रों का समावेश प्रारम्भ हो गया था। यही ओम मणि पद्मे हूम जैसी मंत्रों के टंकार का लिप्यांतरण वज्रयानी क्षेत्र तिब्बत, लेह-लद्दाख, भूटान जैसे वज्रयानी क्षेत्रों में देखने को मिलता है।

परन्तु भारतीय क्षेत्रों में इस वज्रयान वाले तंत्र-मंत्र का विकास क्रम कहें या विनाश क्रम कहें, इस वजह से इसमें एक शंकर प्रछन्न बौद्ध का उदय होता है जिसे आदि शंकर के नाम से जाना जाता है। आदि शंकर (प्रछन्न बौद्ध) ने अपने दर्शन द्वारा वज्रयान के तंत्र मंत्र वाली ज्ञान की जगह पर मंत्रों वाला एक नया **शैव पंथ,** जिसका दर्शन **अद्वैत सिद्धांत** पर आधारित है, की स्थापना की। यही वह भारतीय कालचक्र का समय है जहां से सम्यक संस्कृति से हटते हुए व्यक्ति विशेष की संस्कृति का उदय होता है और इस संस्कृति के प्रथम प्रणेता के रूप में सारा श्रेय आदि शंकर को जाता है।

यह शंकर आगे चलकर आदि शंकर के रूप में प्रतिस्थापित होते हुए भारत के आदि शंकराचार्य (प्रारंभिक शंकराचार्य) कहलाये। जिन्होंने पूर्वकाल से चली आ रही बौद्धिक संस्कृति का दमन करते हुए, अपना एक नया, अद्वैत वैदिक सिद्धान्त पर आधारित, दर्शन स्थापित किया। इस आदिशंकर के दर्शन को **'शैव पंथ'** भी कहा जाता है। इस शैव पंथ में आदिशंकर की स्वयं की बनाई हुई दर्शन व्यवस्था है, जिसमें बौद्धिक संघ के जैसा खुलापन नहीं है। इसमें एक परिवार का एकाधिकार है, जिसे आज कोई भी आदिशंकर के जन्मस्थान केरल से लेकर आदिशंकर की कर्मभूमि केदारनाथ मंदिर और पशुपतिनाथ मंदिर, नेपाल काठमांडू में अवस्थित मंदिर में देख सकता है। आज इन सभी जगहों पर केरल के एक परिवार (जंघम ब्राह्मण) का ही परिवारवाद वाली सर्वोच्चता स्थापित है।

आदि शंकर की जीवनी–आदि शंकराचार्य के जन्म का नाम 'शंकर' था। उनका जन्म 788 ई. में आज के केरल राज्य और उस समय के कलाड़ी, चेर साम्राज्य में हुआ था और उनकी मृत्यु 820 ई. (उम्र 32) में केदारनाथ,

(उस समय का पाल साम्राज्य और वर्तमान में उत्तराखंड) भारत में हुआ था। इनके गुरु शिक्षक का नाम गोविंद भगवत्पाद जी था।

लेकिन इस गुरु की जीवनी देखेंगे तो इनका जन्म काल सोलहवीं शताब्दी लिखा मिलेगा। अब आप लोग स्वयं ही बताएं कि आदि शंकर का गुरु कौन?

आदि शंकराचार्य तंत्र मंत्र पर आधरित अद्वैत वेदांत के प्रणेता, लिंग मूर्तिपूजा के पुरस्कर्ता, पंचायतन पूजा के प्रवर्तक हैं। इनके द्वारा उपनिषदों और वेदांतसूत्रों की रचना की जानकारी मिलती है, लेकिन उसका कोई पुरातात्विक साक्ष्य नहीं मिलता है। इन्होंने भारतवर्ष में पूर्वकाल से चले आ रहे बौद्ध मठों की परंपरा को परिवर्तित करते हुए अपने दर्शन पर आधारित अद्वैत वेदांत में चार मठों की स्थापना की थी जो अभी तक बहुत प्रसिद्ध और पवित्र माने जाते हैं और उनके प्रबंधक तथा गद्दी के अधिकारी 'शंकराचार्य' कहे जाते हैं। वे चारों स्थान हैं–(1) वदरिकाश्रम, (2) शृंगेरी पीठ, (3) द्वारिका पीठ और (4) शारदा पीठ। ये शंकर के अवतार माने जाते हैं। इन्होंने ब्रह्मसूत्रों की बड़ी ही विशद और रोचक व्याख्या की है।

पूर्व की सम्यक संस्कृति को रूपान्तरित करते हुए एक नई काल्पनिक संस्कृति की स्थापना का श्रेय इन्हीं आदि शंकर को जाता है। इन्हीं के कार्य-काल में नई काल्पनिक कथाओं के माध्यम से कलियुग, त्रेता और द्वापर युग की अवधारणा वाली बात प्रचलन में आयी थी।

इनके द्वारा मण्डन मिश्र को सपत्नीक शास्त्रार्थ में परास्त करने की मान्यता आज काफी प्रसिद्ध है।

आप लोग क्या उस प्रचलित शास्त्रार्थ की एक वात पर ध्यान दिए हैं! कहा जाता है कि उन्होंने मिथिला के प्रमुख विद्वान मण्डन मिश्र को शास्त्रार्थ में हराया। (इस काल में किसी भी सम्राटों द्वारा लिखित अभिलेख में मिश्र जैसा सरनाम नहीं मिला है) मण्डन मिश्र की पत्नी ने इनसे अपने पति की अर्धांगनी होने के नाते अपने पति पर अपना भी आधा अधिकार जताया और कहा कि आपको उस नाते मुझसे भी शास्त्रार्थ करना होगा। जिस पर आदिशंकर तैयार हो गए। अब मण्डन मिश्र की पत्नी का प्रश्न आता है कि पुरुष और महिला के बीच सेक्स की कमजोरी कहां-कहां होती है?

आदि शंकर विवाहित नहीं थे इस वजह से वे इस सवाल का जवाब नहीं दे पाए। परन्तु इस सवाल का जवाब देने हेतु वे मण्डन मिश्र की पत्नी से छह महीना का समय लेकर वहां से चल दिए। वहां से जाते समय पूरे रास्ते इस सवाल पर सोचते रहे। लेकिन उन्होंने शादी तो की नहीं थी, इस वजह से वे इस प्रश्न को हल नहीं कर पा रहे थे। अचानक से उन्होंने कुछ व्यक्तियों द्वारा एक विवाहित मृत नवयुवक के शरीर लेकर अंतिम क्रिया हेतु श्मशान घाट जाते देखा। वे तत्काल उस प्रश्न के जवाब हेतु अपने शरीर से अपनी आत्मा को निकालते हुए उस मृत नवयुवक के शरीर में प्रवेश कर गए। इन सभी घटनाओं के बाद वह मृत नवयुवक जिन्दा होकर बैठ गया। अब उस मृत से जिन्दा हुए नवयुवक को पुनः सभी लोग वापस उसके घर लेकर आ गए। अब उसके शरीर में आदि शंकर की आत्मा थी जो अब मण्डन मिश्र की पत्नी द्वारा पूछे गए प्रश्नों के जबाब को ढूढ़ने हेतु मृत नवयुवक की पत्नी के साथ (आदि शंकर की आत्मा) सेक्स करने लगी। पांच-छः महीने के अंतराल में आदिशंकर के आत्मा को जब सेक्स के बारे में पूरी जानकारी प्राप्त हो गयी तो, उन्होंने पुनः उस नवयुवक के शरीर से अपनी आत्मा को निकालते हुए अपने पूर्व वाले शरीर में प्रवेश किया और मण्डन मिश्र के समक्ष उपस्थित होकर उसकी पत्नी से पुनः शास्त्रार्थ किया और उसे सेक्स पर भी हरा दिया।

नोट—कितनी सुन्दर भ्रम का पुलिंदा वाली साहित्यिक रचना बन गई! इस ज्ञान और दर्शन पर आज तक सभी लोग काफी खुश हैं, लेकिन ऊपर की कथाओं ने उस इतिहास में काफी शंकाओं को जन्म दे दिया है। पहला कि नौवीं शताब्दी में भारत के किसी कोने में भी मिश्र, दुबे, झा का सरनाम किसी भी अभिलेख में नहीं मिलता है, तो फिर इस कथा में 'मण्डन मिश्र' कैसे?

दूसरा, मण्डन मिश्र की पत्नी द्वारा पूछे गए सवालों के जवाव को ढूढ़ने हेतु आदि शंकर की आत्मा किसी दूसरे के शरीर में प्रवेश कर गयी थी, तो इनके स्वयं की खाली आत्मा वाले शरीर को किस अवस्था में रखकर और कैसे सुरक्षित रखा गया था? क्या उस समय किसी व्यक्ति को इच्छा मृत्यु द्वारा शरीर को छोड़ने और शरीर में प्रवेश करने का ज्ञान प्राप्त हो गया था? अगर हो गया था तो यही आदि शंकर 30-32 वर्ष की अवस्था में अपने शरीर को हमेशा हेतु छोड़कर मृत क्यों हो गया था?

क्या उस समय मृत शरीर को सुरक्षित रखने की तकनीक भारत को प्राप्त हो गयी थी?

क्योंकि वे स्वयं कहते हैं कि पांच-छह महीने के उपरांत में मैंने अपने शरीर में पुनः प्रवेश किया था?

आदि शंकराचार्य ने जिन चार पीठों का नामाकरण किया, उनके काल निर्धारण में भी समय को एक मिथ्या काल्पनिकता के साथ प्रदर्शित किया है—

1. उत्तर दिशा में बदरिकाश्रम में ज्योतिर्पीठ...

स्थापना-युधिष्ठिर संवत् 2641-2645

2. पश्चिम में द्वारिका शारदापीठ- यु.सं. 2648

3. दक्षिण शृंगेरीपीठ- 2648

4. पूर्व दिशा जगन्नाथपुरी गोवर्द्धनपीठ 2655

युधिष्ठिर शके 2631 वैशाखशुक्लापंचम्यां श्रीमच्छंकरावतारः।

आदि शंकर के दर्शन और विचार पर मुख्य अद्वैत वेदान्त था, जिसको संक्षेप में अद्वैत मत कहा जाता है। शंकराचार्य को वैदिक पंथ को स्थापित एवं प्रतिष्ठित करने का श्रेय दिया जाता है। एक तरफ उन्होंने अद्वैत चिन्तन को जीवित करके अपने दार्शनिक आधार को सुदृढ़ किया, तो दूसरी तरफ उन्होंने जनसामान्य में प्रचलित मूर्तिपूजा का औचित्य सिद्ध करने का भी प्रयास किया। शंकर के मायावाद पर वज्रयान बौद्ध चिन्तन का प्रभाव माना जाता है। इसी आधार पर उन्हें प्रछन्न बौद्ध कहा गया है।

शंकर के अद्वैत दर्शन का सार—

ब्रह्म और जीव मूलतः और तत्वतः एक है। हमें जो भी अंतर नजर आता है उसका कारण अज्ञान है।

जीव की मुक्ति के लिये ज्ञान आवश्यक है।

जीव की मुक्ति ब्रह्म में लीन हो जाने में है।

भारत में पुरातात्विक रूप से ब्रह्माणी संस्कृति की प्रमाणित प्रथम रचना आदि शंकर का दर्शन है। इन सभी रचनाओं का लेखन कागज की पाण्डुलिपि पर हुआ है। अब यहां ध्यान देने की बात यह है कि कागज

का नामकरण पालि और संस्कारित भाषा का नहीं है। कागज का निर्माण सर्वप्रथम चीन में हुआ था, इस कागज का नामकरण चीन ने 'झी' (ZHI) किया था। चीन से जब कागज यूरोपियन देशों में गया तो उस कागज का नाम यूरोपियन भाषा में झी से पेपर (Paper) हो गया। वही पेपर जब अरब में आया तो उसका नाम अरबी भाषा में कागज हो गया, लेकिन जब वह कागज मुगल शासकों के साथ भारत आता है तो इसका नाम संस्कारित नहीं होकर अरबी नाम ही रह जाता है। ऐसे ही आज कई संज्ञा नाम विदेशी स्वरूप में यथावत बना हुआ है, उसका संस्कार आज तक नहीं हुआ है। उसका सबसे बड़ा कारण है कि भ्रमवंशियों को विदेशी शब्दों से ज्यादा डर नहीं होकर, सम्यक संस्कृति में प्रचलित गुणवाचक संज्ञा शब्दों से ज्यादा था। इसी वजह से सम्यक संस्कृति के सभी गुणवाचक शब्दों का संस्कार हो गया है। ब्राह्मणी रचना का लेखन सिर्फ कागज पर देखकर अब लोगों को पक्का यकीन हो गया है कि ब्राह्मणी ग्रंथों का लेखन मुगल द्वारा लाए गए कागज पर ही सुनिश्चित हुआ है। अब भारत में मुगल और उर्दू कब आई है, यह बात आज सभी को मालूम है। फिर तो भारत में कागज कब आया, यह बात आप लोगों को निश्चित ही मालूम होगी!

ब्राह्मणी ग्रंथों का लेखन कागज पर तो है ही, लेकिन इन सभी लेखन की लिपि नागरी लिपि और संस्कृत भाषा में है। क्योंकि संस्कृत भाषा का लेखन नागरी वर्णमाला से ही संभव है, इसकी चर्चा मैं ऊपर में कर आया हूं। लेकिन यहां एक बात पर बारीक से ध्यान देने की जरूरत है कि पुरातात्विक रूप से नागरी लिपि और संस्कृत भाषा का लेखन पाल वंश के मध्य काल में भी मिला है, लेकिन वह सभी लेखन ताम्र-पत्र और शिला-पट्ट पर है। यानी

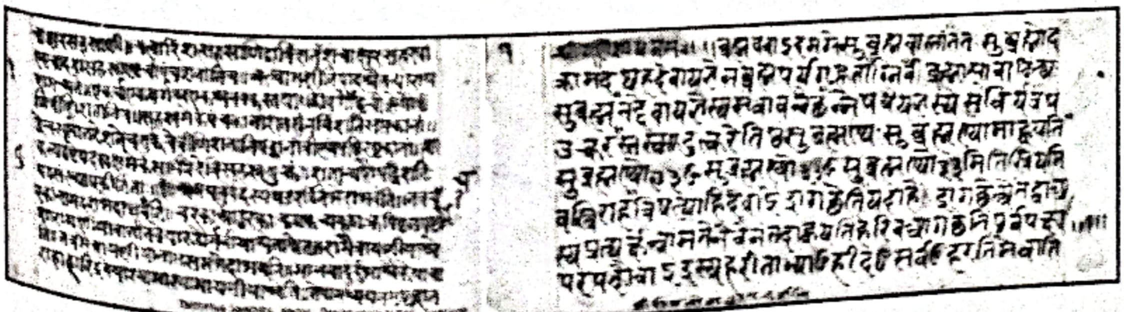

देव नागरी ताम्र और शिला पट्ट

नौवीं-दसवीं शताब्दी के समय में धम्म लिपि का क्रमिक विकास नागरी लिपि में और पालि भाषा का संस्कार संस्कृत भाषा में लगभग हो गया था। इस संस्कारित संस्कृत भाषा का लेखन नागरी लिपि में ताम्र-पत्र और शिला-पट्ट पर काफी मिला है, लेकिन इस समय तक प्राप्त ताम्र-पत्र और शिला-पट्ट जैसे शिलालेख में भ्रमवंशीयों द्वारा लिखित ब्राह्मणी साहित्य नहीं मिला है।

पुरातात्विक रूप से आज प्रमाणित है कि ब्राह्मणी साहित्य का लेखन कागज और नागरी लिपि के साथ संस्कृत भाषा में हुआ है। आज यह बात सभी को मालूम है कि कागज का प्रथम आविष्कार विश्व में चीन ने किया था, जिसका नाम उसने झी (ZHI) रखा था। समाज और भाषा के विकास क्रम में वह झी चीन से सिल्क के रास्ते से चलकर अरब देशों में पहुंचा था, जहां उस झी का नामकरण अरबी भाषा में कागज हुआ। अब वही कागज अरब से जब यूरोपीय बाजार में पहुंचता है, तो उस कागज का नामाकरण रोमन भाषा में पेपर (Paper) हो जाता है। लेकिन वही कागज जब अरब के तुर्कों द्वारा भारतीय बाजार में आता है तो भारत के भ्रमवंशी लोग उस कागज नाम को संस्कारित करना उचित नहीं समझते हुए उसी अरबी नाम के साथ कागज को अंगीकार कर लेते हैं। ऐसा प्रतित होता है कि भ्रमवंशियों को भारत की सम्यक संस्कृति वाली पुरखों की भाषा से परहेज था, लेकिन यहां उन्हें अरब के तुर्कों की भाषा कागज से परहेज नहीं था। उसी प्रकार नागरी लिपि का संस्कार धम्म लिपि से कब हुआ है, इसकी जानकारी तो सभी पाठक को जरूर होगी। क्योंकि ऊपर में साक्ष्यों के साथ मैं इस पर काफी वर्णन कर चुका हूं।

आदि शंकराचार्य के दर्शन द्वारा रचित ग्रन्थ, जो कागज की पाण्डुलिपि पर और नागरी लिपि वाली संस्कृत भाषा में लिखा हुआ मिला है।

बस शुरू हो गया भ्रम का पुलिंदा वाले ग्रंथों का लेखन।



कागज और संस्कृत की पाण्डूलिपि

नोट—पुरातात्विक रूप से एक बात को याद रखना है कि ऐसे सभी लेखन का साक्ष्य सिर्फ कागज की पाण्डुलिपि पर और जमीन के ऊपर से मिला है।

आगे जैमिनी और कुमारिल भट्ट ने इस नए 'शैव पंथ' वाले दर्शन 'ब्रह्म सत्यं जगत मिथ्या' वाली सोच को एक नई दिशा देते हुए इस पर लेखन के माध्यम से इसको काफी आगे बढ़ाया था।

इसके बाद भारतीय संस्कृति में वैदिक अवधारणा द्वारा वैष्णव दर्शन का श्रेय रामानुज को ज्यादा जाता है।

1017 ईस्वी सन् में रामानुज का जन्म दक्षिण भारत के तमिलनाडु प्रान्त में हुआ था। बचपन में उन्होंने कांची जाकर शैव पंथ के गुरु यादव प्रकाश से वेदों की शिक्षा ली। परन्तु बाद में यह विशिष्टाद्वैत वेदान्त के प्रवर्तक बन गए थे। रामानुज ने ब्रह्मसूत्र और विष्णु सहस्रनाम की रचना की थी। मैसूर के श्रीरंगम् से चलकर रामानुज शालिग्राम नामक स्थान पर रहने लगे। रामानुज ने उस क्षेत्र में बारह वर्ष तक वैष्णव धर्म का प्रचार किया। उसके बाद उन्होंने वैष्णव धर्म के प्रचार के लिये पूरे भारतवर्ष का भ्रमण किया। 1137 ईसवी सन् में 120 वर्ष की आयु में वे मृत्यु को प्राप्त हुए। वैष्णव आचार्यों में प्रमुख रामानुजाचार्य की शिष्य परम्परा में ही रामानन्द जैसे शिष्य हुए थे। रामानुज ने आगे वेदान्त दर्शन पर आधारित अपना नया दर्शन विशिष्ट अद्वैत वेदान्त लिखा था।

उन्होंने यूं तो कई ग्रन्थों की रचना की, किन्तु ब्रह्मसूत्र के भाष्य पर लिखे उनके दो मूल ग्रन्थ सर्वाधिक लोकप्रिय हुए—श्रीभाष्यम् एवं वेदान्त संग्रहम्।

रामानुजाचार्य के दर्शन में सत्ता या परमसत्ता के सम्बन्ध में तीन स्तर माने गये हैं—ब्रह्म अर्थात् ईश्वर, चित् अर्थात आत्म तत्व और अचित् अर्थात प्रकृति तत्व।

वस्तुतः ये चित् अर्थात आत्म तत्त्व तथा अचित् अर्थात प्रकृति तत्त्व ब्रह्म या ईश्वर से पृथक नहीं हैं, बल्कि ये विशिष्ट रूप से ब्रह्म के ही दो स्वरूप हैं एवं ब्रह्म या ईश्वर पर ही आधारित हैं। वस्तुतः यही रामनुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त है।

जैसे शरीर एवं आत्मा पृथक नहीं हैं तथा आत्म के उद्देश्य की पूर्ति के लिये शरीर कार्य करता है उसी प्रकार ब्रह्म या ईश्वर से पृथक चित् एवं

अचित् तत्त्व का कोई अस्तित्व नहीं है। वह ब्रह्म या ईश्वर का शरीर हैं तथा ब्रह्म या ईश्वर उनकी आत्मा सदृश्य है।

इसके बाद भारतीय संस्कृति को वैदिक अवधारणा में बैठाने का बहुत ही ज्यादा श्रेय एक तीसरे व्यक्ति मध्वाचार्य को जाता है।

इनका जन्म दक्षिण कन्नड जिले के उडुपी शिवल्ली नामक स्थान के पास पाजक नामक एक गांव में सन् 1238 ई. में हुआ। ऐसी मान्यता है कि अल्पावस्था में ही ये वेद और वेदांगों के अच्छे ज्ञाता हुए और संन्यास लिया। पूजा, ध्यान, अध्ययन और शास्त्र चर्चा में इन्होंने संन्यास ले लिया। शंकर मत के अनुयायी अच्युतप्रेक्ष नामक आचार्य से इन्होंने विद्या ग्रहण की और गुरु के साथ शास्त्रार्थ कर इन्होंने अपना एक अलग मत बनाया जिसे **'द्वैत दर्शन'** कहते हैं। इनके अनुसार विष्णु ही परमात्मा हैं। रामानुज की तरह इन्होंने श्री विष्णु के आयुधों, शंख, चक्र, गदा और पद्म के चिन्हों से अपने अंगों को अंलकृत करने की प्रथा का समर्थन किया। देश के विभिन्न भागों में इन्होंने अपने अनुयायी बनाए। उडुपी में कृष्ण के मंदिर की स्थापना की, जो उनके सारे अनुयायियों के लिये तीर्थ स्थान बन गया। 79 वर्ष की अवस्था (सन् 1317 ई.) में इनका देहावसान हुआ। नारायण पंडिताचार्य कृत सुमध्वविजय और मणिमंजरी नामक ग्रंथों में मध्वाचार्य की जीवनी और कार्यों का पारंपरिक वर्णन मिलता है। भारत में भक्ति आन्दोलन के समय के सबसे महत्वपूर्ण दार्शनिकों में से वे एक थे। वे पूर्णप्रज्ञ व आनंदतीर्थ के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। वे तत्ववाद के प्रवर्तक थे जिसे द्वैतवाद के नाम से जाना जाता है। द्वैतवाद, वेदान्त के तीन प्रमुख दर्शनों में एक है।

मध्वाचार्य कई अर्थों में अपने समय के अग्रदूत थे, वे कई बार प्रचलित रीतियों के विरुद्ध चले गये हैं। उन्होंने द्वैत दर्शन का प्रतिपादन किया तथा द्वैत दर्शन के ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखा और अपने वेदांत के व्याख्यान की तार्किक पुष्टि के लिये एक स्वतंत्र ग्रंथ 'अनुव्याख्यान' भी लिखा। श्रीमद्‌भगवद्‌गीता और उपनिषदों पर टीकाएं, महाभारत के तात्पर्य की व्याख्या करने वाले ग्रंथ महाभारत तात्पर्य निर्णय तथा श्रीमद्‌भागवतपुराण पर टीका, ये इनके अन्य ग्रंथ हैं। ऋग्वेद के पहले चालीस सूक्तों पर भी इन्होंने एक टीका लिखी और अनेक स्वतंत्र प्रकरणों में अपने मत का प्रतिपादन किया। ऐसा लगता है कि ये अपने मत के समर्थन के लिये प्रस्थानत्रयी की अपेक्षा पुराणों पर अधिक निर्भर हैं।

वैदिक धर्म के अनुसार इनका दर्शन शास्त्र पुनर्जन्म और आत्मा, मोक्ष पर टिका हुआ था।

इस काल के बाद से भारत में दो पंथ (एक शैव पंथ और दूसरा वैष्णव पंथ) के साथ साथ तीन आचार्य (एक शंकरचार्य, दूसरे रामानुचार्य और तीसरे माध्वाचार्य) का नाम स्थापित हो जाता है। अब भारत में दो मतों के एकाधिकार की लड़ाई शुरू हो जाती है। मतलब कि शैव पंथ और वैष्णव पंथ, दोनों के अनुयायी लोग भारतीय सभ्यता में अपने अलग-अलग प्रचार-प्रसार ज्यादा करने हेतु एक दूसरे के दर्शन को अपने दर्शन से नीचा दिखाने लगते हैं, जिससे समाज में विद्वेष की भावना बढ़ने लगी और यह विद्वेष की भावना कभी-कभी इतनी बढ़ जाती थी कि दोनों पंथों की आपसी लड़ाई एक दूसरे की हत्या तक में बदल जाती थी। अंततः शैव और वैष्णव पंथियों ने एक दूसरे के प्रति जानी दुश्मन की पहचान स्थापित करते हुए भारतीय सस्कृति का अंग बन गए। यह काल भारत के राजपूत काल के नाम से जाना जाता है। इस समय तक भारत में कई राजपूत (क्षत्रिय) शासकों का उदय हो गया था। कोई शासक शैव पंथ का अनुयायी था तो कोई शासक वैष्णव पंथ का अनुयायी बनकर रह रहा था। दोनों पंथों के अनुयायी शासक अपने अपने पंथों के सर्वोच्च आचार्यों के कहे अनुसार एक दूसरे पंथों के अनुयायी राजा से युद्ध करते रहते थे। दक्षिण भारत में यह प्रतिद्वंद्विता ज्यादा थी।

पूर्व काल से स्थापित शैव पंथ के अनुयायियों ने सर्वप्रथम अपने दर्शन का लेखन 'वेद' के नाम पर कागज की पाण्डुलिपि पर किया, जिसका प्रथम भाष्य सायण (जिसका जन्म पता नहीं– मृत्यु 1387 ईस्वी) ने किया था। इस क्रिया की प्रतिक्रिया में वैष्णव पंथियों ने भी अपने दर्शन 'गीता' का लेखन उस वेद वाले दर्शन को नीचा दिखाते हुए कागज की पाण्डुलिपि पर किया। आज कोई भी बंधु वैष्णव दर्शन के ग्रन्थ गीता के अध्याय 2 श्लोक 42, 43, 44, 45, 46 में वेद के ऊपर की गयी तुक्ष्य टिप्पणी को देख सकता है। ऐसे वेद के भाष्यकार के रूप में सोलहवीं शताब्दी में जन्में महीधर का भी नाम आता है, लेकिन आज वेद के नाम पर जो भी भाष्य देखते हैं वह सभी मैक्समूलर का भाष्य है।

इधर भारतीय राजपूत राजा दो पंथों के आधिपत्य वाली संस्कृति में रहते हुए आपसी द्वंद्वों के बीच जूझ रहे थे तो उधर विदेशी आक्रमणकारी

भारतीय राजपूतों को अपने अधीन करने में लगे थे। देशी-विदेशी राजाओं के इन सभी घटनाओं में एक दूसरे को नीचा दिखाने में दोनों पंथों के अनुयायी भी भला पीछे कहां रहने वाले थे। इन्हीं सब कारणों से भारतीय सत्ता मुगलों के अधीन हो गयी थी। सभी पंथों के आचार्यों को मिलने वाले राजपूत राजाओं के राजसत्ता का सुख अब बंद हो गया था। हर पंथों के आचार्यों को राजसत्ताच्युत की स्थिति उत्पन्न होने से आपसी दुश्मनी अब आपसी नजदीकी में बदलने लगी थी, क्योंकि अब मुगल सम्राट राजपूत सम्राटों के जैसे इनके कब्जे में रहते हुए इनके दर्शन से प्रभावित नहीं रह सकते थे। इस वजह से राजसत्ता के राजवैभव की आनंद प्राप्ति हेतु इन सभी पंथों के आचार्यों को मुगलों के दर्शन अनुसार मुगल सम्राटों के साथ रहने की स्थिति उत्पन्न हो गयी थी। इसी काल में तुलसीदास की एक लोक कविता आज बहुत ही प्रसिद्ध है 'मांग के खाइवो मसीत में सोइबो' यानी बाबर-अकबर के समय काल में तुलसीदास कहते थे कि मांग कर अपना पेट पालन कर लेंगे और मुगलों के दर्शन वाले मस्जिद में अपनी रात गुजार लेंगे।

अब भारत की दूसरी सांस्कृतिक सामाजिक व्यवस्था परिवर्तन का दौर आ गया था। भारत मुस्लिम शासकों (13वीं सदी के बाद) के अधीन हो गया था। लेकिन चार पांच सौ वर्ष राजपूत राजाओं के दरबार में राजपुरोहित वाले सर्वोच्च एकाधिकार प्राप्त करते हुए राजसी आनंद प्राप्त कर लेने के बाद इन पंथों के अनुयायों को राजसुख के आनंद से च्युत होना अच्छा नहीं लग रहा था। इसी का परिणाम है कि शैव पंथियों के शीर्षस्थ और वैष्णव पंथियों के शीर्षस्थ आचार्य लोग एकीकृत रूप से मुगलों के शरणागत में समर्पण करते हुए भारतीय राजाओं से अलग हो रहे थे। अपने को सामान्य भारतीयों से अलग स्थापित करना शुरू कर दिये थे। यही वह समय है जब प्रथम बार धूर्तों ने मिलकर कुछेक पन्नों वाली पाण्डुलिपि में लिखित वेद का विस्तार करते हुए उसमें अपने आपको अलग नस्ल का बताया और उस पुस्तक को मुगलों के दरबार में रखते हुए अपने आपको अलग साबित करते हुए मुगलों के जजिया कर से मुक्त हो गए। इस धूर्त प्रजाति के अलावा अन्य कोई भी भ्रमशील भक्त, लूटनशील सामंती राजा और भ्रमशील भक्त, मुनाफाखोर व्यापारी जजिया कर से मुक्त नहीं हुए थे। हां, उस जजिया से बचने हेतु कुछ सामंती शासकों ने मुगलों की गुलामी

करते हुए अपनी बहन-बेटी को मुगल सम्राट से ब्याहना मंजूर कर लिया था और ऐसे लोभी सामंत भी जजिया कर से बच गये और साथ ही अपने राज्य सत्ता को भी बचाने में सफल रहे। उसी भ्रम का पुलिंदा वाली रचित वेद की वजह से सभी ब्राह्मणी पंथों के समूह वाले भ्रमिक लोग मुगलों के जजिया टैक्स से मुक्त हो गए थे। क्योंकि सभी ने मिलकर अपने बचाव हेतु कुछेक पन्नों वाली वेद की पाण्डुलिपि को विस्तार रूप देते हुए पहली बार उसे एक वृहत पुस्तक का रूप दिया, जिसमें सभी धूर्तों को सामूहिक रूप से अलग बताया गया था।

धूर्त भ्रमशील प्रजाति और मुगल सम्राट की गलबहियां दोस्ती इन्हीं वजहों से काफी बढ़ गयी थी। भारत में पूर्व काल वाली जितनी भी बौद्धिक सम्पदा थी उन सभी को या तो रूपांतरित करने का काम शुरू था या इन मुगल सम्राटों द्वारा नष्ट करवाते हुए उन स्थानों पर शैव और वैष्णव पंथियों के मठ-मंदिर बनना शुरू हो गए थे, जिसे आज वैदिक परम्परा का उद्भव माना जाता है। धूर्तों, भ्रमशीलों द्वारा इस मुगल काल में वेद और गीता के आलावा कई अन्य प्रकार के वैदिक ग्रन्थों का लेखन हुआ था, जिनमें इस समय के सम्राटों का काफी गुणगान भी देखने को मिलेगा। चुन-चुन कर पूर्व काल की सभी बौद्धिक निशानियों को खत्म करना और उनके जगह पर शैव और वैष्णव पन्थिओं की अपनी आपसी प्रतिद्वंद्विता को खत्म करते हुए वैदिकता के नाम पर सम्पूर्ण भारतीय समाज का शोषण होना प्रारम्भ हो गया था। इसी का परिणाम था कि भारतीय समाज में कबीरदास जी और तुकाराम जी जैसे अनेक समाज सुधारकों का प्रवेश शुरू हो गया था। भारतीय समाज मुगलों के अधीन होते हुए भी इन धूर्तों द्वारा स्थापित नयी वैदिक कुरीतियों से उबल रहा था। वर्णागत और सामाजिक छुआ-छूत कि स्थिति उच्चतम स्तर पर पहुंच गयी थी। इसी काल में बहुसंख्यक वर्गों के बहुत सारे लोग धूर्तों के छुआ-छूत से परेशान होकर, धूर्तों से बचने हेतु तत्कालीन विदेशी शासक वर्ग के अनुयायी होते हुए उनके संप्रदाय को अंगीकार कर लिये थे, जिसमें धूर्तों द्वारा बनाई छुआ-छूत व्यवस्था द्वारा बहुसंख्यक वर्गों का शोषण नहीं होता था।

हर मुगल सम्राट के दरबार में धूर्त भ्रमभाटों का स्थाई निवास सलाहकार के रूप में हो गया था। मुगल शासक को सिर्फ अपनी ऐशो-आराम की

जरूरत थी, तो वहीं धूर्त भ्रमशीलों को सिर्फ राज सलाहकार के रूप में स्थान लेते हुए बहुसंख्यक जनता पर भ्रम का पुलिंदा को स्थापित करते हुए शोषण करना था। इस तरह दोनों फायदे में रहे। मुगल सम्राट को सारे ऐशो-आराम की सभी जरूरतें धूर्तों द्वारा उनके महल में उपलब्ध होने लगीं। इससे सम्राट के वास्तविक जनता से लगभग सभी सम्बन्ध खत्म हो गये और दूसरी ओर धूर्त राजदरबारी भ्रमशीलों द्वारा बाहरी दुनिया में बहुसंख्यक जनता पर अत्याचार और शोषण का सिलसिला जारी कर दिया। अब बहुसंख्यक जनता पर हो रहे अत्याचार की खबर लेने वाला कोई भी सम्राट नहीं था। उसे तो अब सिर्फ अपने दरबारियों की आंखों से ही अपनी राज-सत्ता को देखना-सुनना सुहाना लग रहा था।

भारतीय मुगलिया सल्तनत की सच्चाई कई सौ वर्षों तक ऐसे ही चलती रही। सभी मुगल सम्राट अपने नौ रत्नों या दरबारी सलाहकारों के अधीन रहते हुए अपने किले के अंदर अय्याशी की जिंदगी जीने में मस्त थे और मुगलिया सल्तनत के नाम पर सभी भारतीय जनमानस का दोहन धूर्त दरबारी और भ्रमशील सलाहकार कर रहे थे। इसी दोहन का परिणाम है कि भारत में एक नई सामाजिक क्रांति के रूप में कबीर दास, गुरु नानक द्वारा नई सामाजिक व्यवस्था का निर्माण हुआ। जिसका नाम गुरु समुदाय था, इसे आज लोग सिख समुदाय के रूप में जानते हैं। यह विशुद्ध रूप से मुगल काल में मुगल के धूर्त दरबारियों के विरूद्ध लड़ते हुए ब्राह्मणी व्यवस्था के खिलाफ बगावत थी, जो आज एक अपनी नई धार्मिक सांप्रदायिक और समाजिक पहचान बनाते हुए उस ब्राह्मणी संस्कृति के बिलकुल ही विपरीत खड़ा है।

भारत के अंदर इस सामाजिक क्रांति से धूर्तो भ्रमवंशियों की चूले हिल गयी थीं। क्योंकि अब वे जिनका दोहन करते हुए, अपने आपको सर्वोच्च कहते हुए अपने कपोल कल्पित दर्शन पर डींगे हांकते थे, अब शोषित जनता ही इनके नीचे से हटने लगी थी, तो इन धूर्त भ्रमशीलों का दर्शन अब कौन सुनता? इन्हीं सब चिंताओं की वजह से धूर्तों ने अपने दर्शन के नाम में कुछ संशोधन और कुरीतियों में कुछ परिवर्तन करते हुए तत्काल इसको नए रूप में पेश करने की तैयारी करने लगे थे।

इसी तरह के प्रथम प्रयास के रूप में 'आर्य समाज' का अवतरण होता है। पूर्व के धूर्त भ्रमशीलों से पीड़ित बहुसंख्यक जनता के बीच में आर्य समाज द्वारा प्रचारित किया गया कि भारतीय संस्कृति वैदिक थी, लेकिन जन्मजात वर्णागत नहीं थी। यह कहा गया कि पूर्व के धूर्तो द्वारा सभी को मूर्ख बनाया गया था। वैदिक संस्कृति में लोग अपने कर्मों के द्वारा अपने वर्ण का निर्धारण करते थे, इसलिए आप लोग समाज सुधारक संत कबीर दास जी और गुरु नानक जी द्वारा स्थापित गुरु संप्रदाय में नहीं जायें! आईये मिल-बैठकर अपनी पूर्व की कुरीति को खत्म करते हुए एक नई वैदिक कर्मगत संस्कृति बनाते हैं।

सभी बहुसंख्यक वर्गों के लोगों को फांसने हेतु बने, कबीर की सामाजिक क्रांति की मुहिम में रोड़ा बनने का काम आर्य समाज द्वारा शुरू हो गया था। अब गुरु नानक जी वाली सामाजिक क्रांति की मुहिम को कम करते हुए फिर से आर्य समाज के नाम पर पुनः भारतीय जनमानस पर नव धूर्तों का एकाधिकार होने लगा। इसने अपनी पुरानी दर्शन वाली किताबों में हेर-फेर करते हुए नए रूप में 'सत्यार्थ प्रकाश' ग्रंथ की रचना की। अब इस सत्यार्थ प्रकाश को वेद, गीता, रामायण, उपनिषद जैसे सभी पूर्व की पुस्तकों में कुछ न कुछ शुद्धिकरण करते हुए, परिवर्तित रूप में लिपिबद्ध करते हुए बाजार में प्रसारित करने लगे। इस नई बदली हुई पुस्तक को पढ़कर बहुसंख्यक वर्ग के लोग झूमने लगे थे। सभी बहुजनों को पूर्व काल की ब्राह्मणी संस्कृति में 'यगोपवीत' से वंचित रखा जाता था, लेकिन इस आर्य समाज की संस्कृति में सभी बहुजनों को यगोपवीत वाले पाखंड से बांधने का कार्य जोड़ा-शोर से होने लगा था। इसमें बहुजनों को भी आर्य विधि द्वारा होने वाले कर्मकांड का कर्ता नियुक्त किया जाने लगा था। लेकिन उस आर्य समाज के सर्वोच्च पद पर धूर्त प्रजाति को छोड़कर किसी भी बहुजन कर्मकांडी को नहीं बैठाया गया था। सबसे ज्यादा तो आश्चर्य तब हुआ जब इस आर्य समाज के संस्थापक के परिवार की बिटिया की शादी हेतु किसी भी नव परिवर्तित ब्राह्मण से शादी नहीं करते हुए अपने पूर्व काल वाले जन्मजात ब्राह्मण से ही तय होती थी। यह कोई लव मैरेज शादी नहीं, बल्कि अरेंज मैरेज शादी होती थी।

आर्य-अनार्य का बनना

भारत में 850 ईस्वी से पूर्व का जो भी सभ्यता, संस्कृति का साक्ष्य मिलता है वह बौद्धिक संस्कृति का साक्ष्य है। उस बौद्धिक संस्कृति के सभी सम्राटों के शासन काल में आर्य और अनार्य का सम्बोधन मिलता है। उसी आर्य अनार्य के सम्बोधन को पूर्व की पालि भाषा में **अरियो अनरियो** कहा जाता था। यह आर्य अनार्य बुद्ध की वाणी से गुण से सम्बंधित था। **'अरियो अठन्गीको मग्गो'** यानी जो भी भगवान बुद्ध के द्वारा बताये गए आठ अंगों वाले मार्ग पर चलेगा वह पालि भाषा में **अरियो** और संस्कारित भाषा में **आर्य** कहलायेगा। उस आर्य का अर्थ श्रेष्ठ, ज्ञानी, सम्यक होता था। ठीक इसके विपरीत जो व्यक्ति **'हिनो गम्बो पौथो जानिको अनरियो अनथ्य संगिलो'** हीन गवांर नहीं जानने वाला अनाड़ी गलत संगती वाले के साथ रहेगा वह **अनरियो** यानी आज की गांव वाली भाषा में **अनाड़ी** कहलायेगा, जिसे आज की संस्कारित भाषा में अनार्य कहा जाता है। यह आर्य और अनार्य शब्द का स्वाभाव गुणवाचक संज्ञा है। लेकिन भ्रमिकों ने आज इस आर्य-अनार्य को समूहवाचक संज्ञा शब्द बना दिया है।

सम्यक अंत संस्कृति के बाद से यही आर्य-अनार्य शब्द समूहवाचक होते हुए सांप्रदायिक होने लगा। इसी समय से पंथों का निर्माण होना शुरू हुआ था। पंथों के निर्माणकर्ताओं ने भारत की संस्कृति को अपने सुरक्षात्मक बचाव हेतु वर्णागत समाज बनाना शुरू कर दिया था। इसके अंतर्गत क्षत्रिय वर्ण के निर्माण का स्पष्ट साक्ष्य मिलता है। लेकिन पंथों के निर्माणकर्ताओं ने अपने ब्राह्मण वर्ण को काल्पनिक कहानियों से जोड़ते हुए लाखों करोड़ों वर्ष पूर्व का बना दिया। लेकिन वास्तव में ब्राह्मणी वर्णागत साक्ष्यों की प्राप्ति इसी काल से प्रारम्भ हुई। भारतीय संस्कृति में पंथों के संस्थापकों द्वारा वर्ण-जाति का बीजारोपण हो गया था। अब सिर्फ इसे बड़ा करते हुए पूर्व के बगैर वर्ण वाले समाज को दबाना मात्र था। इसके लिए इन दोनों वर्णों के प्रमुखों ने मिलकर अपने पड़ोसी देशों के मुस्लिम सम्राटों से मिलकर भारत में स्थापित पूर्व की सभी प्रमुख सांस्कृतिक विरासत को नष्ट करवाना शुरू कर दिया। परिणाम स्वरूप आगे भारत पर मुस्लिमों का आक्रमण बराबर होने लगा। मुगल सम्राटों के सलाहकार रहे दोनों वर्णों के

लोग काफी धूर्त प्रवृत्ति के सलाहकार थे। इस वजह से इन सभी ने मुगल सम्राटों की आमदनी को बढ़ाने हेतु आम-जन पर सांप्रदायिक टैक्स (जजिया कर) का सुझाव दिया। अय्याश मुस्लिम शासकों को भी सरकारी राजस्व बढ़ने वाला सुझाव अच्छा लगा, परिणाम स्वरूप भारत के अंदर सांप्रदायिक लगान (जजीया कर) आरम्भ हुआ।

मुस्लिम शासकों द्वारा सांप्रदायिक लगान लगाने के उपरांत भारत के धूर्त भ्रमशीलों में खलबली मच गयी। भ्रमशीलों द्वारा इससे बचने का उपाय खोजा जाने लगा। आखिर में धूर्त भ्रमशीलों ने इस जजिया कर से बचने का उपाय ढूढ़ ही लिया। उस समय के भ्रमशीलों ने अपने आपको आर्य से सम्बोधित करते हुए प्रथम बार उस आर्य शब्द को किसी विदेश के अज्ञात स्थान से जोड़कर मुगल सम्राट को समझाया कि हम आर्य जाति के हैं, जो आपके जैसे बाहरी हैं। हम पर यह जजिया कर लागू नहीं होता है। धूर्त वर्ण के भ्रमशील आर्य को विदेशी बनाकर स्वयं मुगल सम्राट के जजिया कर से मुक्त हो गये। यह बात मुगल साम्राज्य में हुई, इसी वजह से आर्य-अनार्य की प्रासंगिता मुगल साम्राज्य में खत्म हो गयी थी।

लेकिन मुगल सम्राट के बाद जब अंग्रेजी सरकार आई तो अंग्रेजी सरकार के सामने धूर्त भ्रमशील समाज के कुछ नेता अपने आपको अन्य भारतीयों से सर्वश्रेष्ठ घोषित करना शुरू कर दिए, ताकि अंग्रेजों को यह लगे कि भारतीय राजसत्ता को सुचारु रूप से चलाने वाला अगर कोई है तो यही एक श्रेष्ठ समुदाय है। इसके लिए अंग्रेजी सरकार के समय अनेक धूर्त भ्रमशील परिवार वालों ने पुस्तक लेखन के माध्यम से अंग्रेजों के गुणगांण के साथ-साथ अपने पूर्वजों को भी विदेश से आना लिखा। उस समय सभी लेखकों ने अपने समुदाय को ईसा से 1500 वर्ष पूर्व के समय में भारत आना लिखा है। लेकिन इसके बाद किसी ने नहीं लिखा कि विदेश से भारत आने के बाद हमारे पूर्वज किस अवस्था में, किस स्थान पर और कितने दिनों तक अपना समय व्यतीत किये। आखिर उन सभी लेखकों को अपने पूर्वजों की जीवनी भी लिखनी चाहिए थी! आखिर उनके पूर्वज लोग भारत की सम्यक संस्कृति वाले अनेक सम्राटों के 2500 वर्षों के कार्यकाल में कहां थे? किस हालत में थे? किस नाम से जाने जाते थे? उनकी बोली भाषा क्या थी? इतने बुद्धिजीवी होकर

भी गुमनाम कैसे थे? इन सभी बातों को लिखने की किसी भी लेखक ने जरूरत नहीं समझी! आखिर क्यों?

सभी धूर्त भ्रमशीलों ने आखिर अपने आपको मुगलों के समय में ही अचानक से क्यों प्रकट किया? आगे यह सभी जब अपनी अलग-अलग मान्यता अनुसार लेखन करते हुए अपने पूर्वजों के समुदाय विशेष को विदेश से आने की बात कहने लगे तो अपने अलग-अलग नामों से लिखी गई पुस्तकों में अपने पूर्वजों के स्थानों के नाम पर इन लोगों में इतनी गहरी मत भिन्नता क्यों दिखती है? क्या इन सभी के पास लिखने का आधार अलग-अलग था या जिसको रात में जो सपना आया वह वैसा ही लिखते गया? यदि किसी के पास लिखी गई बातों का कोई पुरातात्विक आधार है तो बताए? जैसे इस विषय में सबसे पहले राहुल सांकृत्यायन उर्फ केदार नाथ पांडेय ने अपनी पुस्तक 'Volga se Ganga' में लिखते हैं कि मेरे (ब्राह्मणों के) पूर्वज वोल्गा नदी (यूरेसिया) के किनारे से चलकर गंगा नदी के किनारे आये थे। तिलक ने अपनी पुस्तक 'The Artic Home of the Aryans' में अपने पूर्वज को उत्तरी ध्रुव से आना निश्चित किया है, तो गंगनाथ ने अपनी पुस्तक **'महामोपाध्याय'** में अज्ञात ब्रह्म देश से आने की चर्चा की है, वहीं दयानन्द ने अपनी पुस्तक 'Indian historical tradition' में अपने पूर्वज को तिब्बत से आना लिखा है, तो डॉ. अविनाश चंद्र दास ने अपनी पुस्तक 'Rigvedik india' में सप्त सैंधव प्रदेश से अपने पूर्वजों का आना निश्चित किया है। उसी प्रकार जवारलाल नेहरू ने भी अपनी पुस्तक 'Discovery of india' में अपनी भ्रमशील प्रजाति के परबाबा को आर्य से सम्बोधित करते हुए मध्य एशिया से आना लिखा है। यानी इन भ्रमवंशी लेखकों को अपने पूर्वजों की वास्तविक पहचान बताने में शर्म महसूस हुई, इसलिए सस्ता नशा करते हुंए सभी कलम कसाइयों ने अपने पूर्वज को भिन्न-भिन्न क्षेत्रों से आना लिख दिया। आखिर ऐसी मतभिन्नता क्यों?

फिर भी इन सभी लेखकों के द्वारा आर्य और आर्य जाति को विदेशी लिखने का आधार 'वेद' है। जबकि वेद का आधार स्वयं सम्यक संस्कृति में होना अपने आप में संदेहास्पद बना हुआ है। संदेहास्पद इसलिए कह रहा हूं कि 850 ईस्वी से पूर्व वेद का लिखित रूप से कोई साक्ष्य आज तक नहीं मिला है। वेद के अनुयायी लोग आज कहते नहीं थकते हैं कि वेद

बहुत ही ज्ञानवर्धक ग्रन्थ है और यह 850 ईस्वी से पूर्व काल में श्रुत-स्मृति परम्परा द्वारा कई हजार वर्षों तक लोगों को लाभ देते हुए भारतीय संस्कृति में पीढ़ी-दर-पीढ़ी यानी एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति के प्रति स्थान्तरित होते हुए चली आ रही है। इसको लिखित रूप से कभी भी कलमबद्ध करने का काम नहीं हुआ था। इसलिए 850 ईस्वी से पूर्व में इस वेद की कोई भी लिखित प्रतिलिपि आपको आज साक्ष्य के रूप में नहीं मिलती है। यह तो भारत में कागज आने के बाद से मुस्लिम काल में लिपिबद्ध किया गया, जिसके बाद से यह वेद हर लागों को सर्व सुलभ रूप में लिखित मिलना शुरू हुआ।

अब तो इस वेद के अनुयायियों पर और भी ज्यादा संदेह बढ़ जाता है कि पूर्व कालीन ज्ञानवर्धक बातें जो श्रुत-स्मृति प्रारूप में थीं उसको मुस्लिम काल में ही लिपिबद्ध करने कि क्या आवश्यकता आ गयी? क्या धूर्त भ्रमशीलों को मुगलों की छत्रछाया में रहकर लिखना ज्यादा मनभावन लगता था? मुगल और राजपूत काल के पूर्व में भारतीय संस्कृति के अन्दर विश्व विख्यात अनेक विश्वविद्यालय जैसे ज्ञान का संस्थागत भंडार हुआ करता था। फिर उस समय असंख्य ज्ञान से लबालब वेद की ज्ञानप्रद बातों को जानने वाला कोई शिक्षण संस्थान या विद्यार्थी क्यों नहीं था? दूसरा प्रश्न बनता है कि वेद में ज्ञान का भंडार था तो उस समय का कोई भी शिक्षण संस्थान इस श्रुत वाली वेद पुस्तक को अपने विद्यालय में पठन-पाठन हेतु अपने पाठ्य-पुस्तक में शामिल क्यों नहीं किया था? अगर पाठ्य-पुस्तक में शामिल नहीं किया तो इस ज्ञानवर्द्धक श्रुत परम्परा को लिपिबद्ध क्यों नहीं किया? आख़िर बात क्या थी! उस समय के सभी शिक्षण संस्थानों से शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त सामान्य गृहस्थ जिन्दगी में अनेक विद्यार्थी भारतीय संस्कृति में विराजमान थे। आखिर, उन सभी ने भी इस अद्‌भुत ज्ञान वाली श्रुत वेद पुस्तक को क्यों नहीं लिपिबद्ध किया था? क्या सही में पूर्व काल में श्रुत वेद था या कोई अपने लाभ हेतु इसे काल्पनिक रूप से पूर्व काल में स्थापित करने पर आमादा है? आखिर उस वेद में वह कौन सा गुप्त ज्ञान था, जिसको उस समय के असंख्य शिक्षण संस्थानों ने भी अपने विद्यार्थी को उस ज्ञान से शिक्षित करने के लिए उचित नहीं समझा था? इन सभी पहलुओं पर सबसे ज्यादा संदेह अपने समय के रहे सम्राट बिम्बिसार, मौर्य, मिनाण्डर, कुषाण, गुप्त, हर्षवर्द्धन जैसे विश्व विख्यात सम्राटों पर जाता है

कि उन सभी ने समय-समय पर ज्ञान वाली प्रत्येक बात को शिलापट्ट पर लिपिबद्ध करते हुए अपने जनता-जनार्धन को लाभान्वित किया, लेकिन इस वेद के प्रचार-प्रसार हेतु कोई भी वंश का सम्राट कभी आगे बढ़कर कार्य क्यों नहीं किया? आखिर क्या इस वेद के ज्ञान की जानकारी किसी भी सम्राटों तक नहीं पहुंच सकी थी या उस समय में यह वेद वाली बात ही एक अबूझ पहेली थी? आखिर कुछ न कुछ बात तो जरूर है। इस सच्चाई पर आज तक बोलने वाला कोई नहीं है, इन बातों को लेकर आज सिर्फ भ्रम का पुलिंदा बनाया जाता है।

वेद के बारे में ज्यादा जानकारी हेतु पढ़ें 'वैदिक युग का घालमेल'।

आइए सम्यक संस्कृति के गुणवाचक शब्द अरियो (आर्य) से सम्यक अंत संस्कृति में जातिवाचक आर्य नाम का भ्रम का पुलिंदा बनाई गई वास्तविकता को देखते हैं। अरियो (आर्य) और अनरियो (अनार्य) के बारे में जानकारी हेतु आपको पूर्वकाल में स्थापित भारत की समृद्धशाली लेखन पद्धति को समझना होगा। उस समय भारत की लेखन पद्धति की लिपि धम्म लिपि थी, इस लिपि से आर्य और अनार्य का लेखन संभव नहीं है। क्योंकि इस समृद्धशाली पालि भाषा द्वारा लिखे गए शब्दों में 'र' का संयुक्त प्रयोग नहीं होता था, जिस वजह से पूर्वकाल में 'आर्य-अनार्य और ब्राह्मण-क्षत्रिय-शूद्र' शब्द का उद्‌भव का सवाल ही नहीं बनता है।

भारत की समृद्धशाली भाषा से एक गुणवाचक शब्द बनता था जिसे 'अरियो' और 'अनरियो' कहा जाता था। यह गुणवाचक इसलिए था, क्योंकि मार्गदाता द्वारा प्रयुक्त 'आष्टांगिक मार्ग' का जो पालन करता था, उसे उस समय 'अरियो' और जो 'आष्टांगिक मार्ग' का पालन नहीं करता था, उसे उस समय अनरियो कहते हुए संबोधन किया जाता था।

लेकिन भारत में जब भ्रमवंश का उदय हो गया था और किसी कारण से भ्रमवंश समूह को इस शब्द की आवश्यकता हुई, तो भ्रमवंश ने पूर्व काल की गुणवाचक शब्द 'अरियो' और 'अनरियो' को गुणवाचक से हटाकर जातिवाचक, समूहवाचक से जोड़ दिया। इसी जातिवाचक संज्ञा के कारण उत्तर भारत में 'अरियो' को 'आर्य' से और 'अनरियो' को 'अनार्य' से संबोधन करने की परम्परा का जन्म हुआ था। परन्तु दक्षिण भारत में यही

'अरियो' आर्य नहीं बनकर 'अय्यर' और 'अनरिओ' अनार्य नहीं बनकर 'नैयर' (न अय्यर) कहलाने लगा था। जिसको आज भी कोई देख सकता है। दक्षिण भारत में आज ऐसा भी समूह मिलता हैं, जो अरियो से 'अयंगर' यानी अय्यर से भी श्रेष्ठ अय्यर बना था। जैसे जैसे यह जातिवाचक समूह आगे बढ़ रहा था, वैसे-वैसे इसमें भी टूट फूट हो रही थी। आगे इसी अय्यर में कुछ थोड़ा श्रेष्ठ अय्यर बना, तो कुछ थोड़ा छोटा अय्यर बना। जिसका संबोधन श्रेष्ठ अय्यर यानी सेठियार या अपभ्रंश की भाषा अनुसार आज चेतियार बन गया और जो छोटा अय्यर बना था वह आज चुल्ल अय्यर (चुल्ल यानी छोटा) या अपभ्रंश की भाषा अनुसार चुल्लियार से संबोधन होने लगा। आगे यही चुल्ल अय्यर किसी कारण से अठरहवीं उन्नसवीं शताब्दी में मुस्लिम बन गया, जिसके कारण आज इस समूह का संबोधन चुल्ल अय्यर मुस्लिम यानी चूलिया मुस्लिम से होता है। यह आज की कटु सत्य वास्तविकता है। जिसको कोई भी दक्षिण भारत में जाकर देख सकता है।

सम्यक संस्कृति का गुणवाचक शब्द अरियो और अनरियो का जब सम्यक अंत काल में संस्कारित होते हुए आर्य और अनार्य बनता है, तो तथाकथित इस आर्य समूह के लोगों के ज्ञान की मतभिन्नता देख लीजिए। इन लोगों की मतभिन्नता को देखकर बचपन की याद ताजा हो गयी कि जब कोई किसी अबोध बच्चे से पूछता है कि तुम्हारा घर कहां है तो बच्चा तोतलाते हुए जवाब देता है कि मेरा घल उधर है! फिर लोग पूछते हैं कि उधल किधर, तो बच्चा बोलता है कि उधल नहीं इधल! फिर लोग पूछतें हैं कि इधल किधर, तो बच्चा पुनः इशारा करता है कि इधल नहीं न उधल उधल!

बच्चा ऐसा इसलिए बोलता है क्योंकि वह अबोध अवस्था में है और अबोध अवस्था में बच्चे को अपने घर का पता नहीं मालूम है। ठीक भ्रमवंश के इन तथाकथित कलम कसाई लेखकों की भी कुछ वैसी ही स्थिति दिख रही है। जिस कलम कसाई को जो मन में आ रहा है उधर ही अपना घर लिखे जा रहा है और आज उसी लेखनी पर उसके विरोधी लोग उसे फंसा जा रहे हैं।

इससे साफ पता चलता है कि सम्यक संस्कृति में अरियो और अनरियो (आर्य और अनार्य) शब्द गुणवाचक संज्ञा के रूप में किसी की गुणवत्ता

के आधार पर उस व्यक्ति या समूह को गुणवाचक उपाधि अरियो और अनरियो बोला जाता था, लेकिन यही गुणवाचक संज्ञा सम्यक अंत काल में समूहवाचक संज्ञा बनकर किसी समूह का नाम बनकर शोभा दे रही है। जिससे उस शब्द का पूरा भावार्थ ही बदल गया है।

निष्कर्ष

इतने सारे पुरातात्विक प्रमाण व तर्क को देखने के बाद तो यह स्पष्ट हो जाता है कि जम्बुद्वीप के सम्यक संस्कृति में विदेशी शासक समय-समय पर आए जरूर हैं, लेकिन सभी विदेशी शासक अपनी पहचान को बताते हुए सम्यक संस्कृति में अपनी पहचान को विलीन कर दिए। जिस वजह से उन विदेशी शासकों को आज खोजना नामुमकिन ही नहीं, असम्भव है। वे सभी विदेशी शासक लोग अपने साथ कोई भी विदेशी भाषा, लिपि व विदेशी संस्कृति को साथ लाकर जम्बुद्वीप में स्थापित नहीं किए, बल्कि वे सभी लोग क्रमशः सम्यक संस्कृति का अंग बनते चले गये और अपने शासन काल में सम्यक संस्कृति को मजबूती प्रदान करते हुए एक ऊंचाई पर ले गए थे। आज उसी का परिणाम है कि उन सभी के द्वारा किए गए कार्यों का लिखित साक्ष्य देखने को मिल रहा है। इन स्पष्ट पुरातात्विक साक्ष्यों को देखने के बाद भी यदि किसी को विश्वास नहीं हो पाता है, तो यह उनका अपना विवेक है। भ्रम वंशी कलम कसाई तो पुरातात्विक साक्ष्यों को किनारे करते हुए अपनी कलम की जादूगरी द्वारा भ्रम का पुलिंदा बनाते हैं, जबकि यहां तो पुरातात्विक रूप से जो मिला है उसी का विशुद्ध वर्णन प्रस्तुत है।

पुरातात्विक साक्ष्यों में स्पष्ट दिखता है कि ईसा पूर्व का थेर आर्य महासंघ कुषाण काल में महासांघिक आर्य संघ में रूपान्तरित हो गया, और वह महासांघिक संघ गुप्तकाल में शिक्षण संस्थानों के माध्यम से धम्म और अज्झत (धर्म और अध्यात्म) के लिए विश्व में प्रसिद्ध हो गया। लेकिन पाल वंश के समय में महासांघिक आर्य संघ से निकले वज्रयान, तंत्रयान, शाक्तयान, शैवयान, वैष्णवयान जैसे अनेक मत धूर्त लोभी स्वार्थी बोधिसत्त्व के भाई-भतीजावाद के जंजाल में फसकर रह गया था, जिसके परिणामस्वरूप ऐसे सभी बोधिसत्त्व लोग अपने-अपने नाम का दर्शन पंथ स्थापित करने लगे थे। आज वही स्थापित दर्शन ब्रह्मयान का स्वरूप बनकर लोगों को

भ्रमित कर रहा है। यह बोधिसत्त्व द्वारा स्थापित भ्रम का ब्रह्मयान है जो आज हिन्दूयान रूपी समाजिक विषमता के साथ धार्मिक विषमता पैदा किए हुए है। इन लोगों द्वारा स्थापित किसी भी पंथ का कोई पठनीय पुरातात्विक अभिलेख प्राप्त नहीं है।

भ्रमवंशियों द्वारा अभी तक जितने भी लिखीत साक्ष्य उपलब्ध हैं, वे सभी कागज की पाण्डुलिपि के रूप में हैं। आज समग्र शिक्षित वर्ग को पता है कि कागज का प्रथम आविष्कार विश्व में चीन ने किया था, जिसका नाम उसने झी (ZHI) रखा था। समाज और भाषा के विकास क्रम में वह झी चीन से सिल्क के रास्ते से चलकर अरब देशों में पहुंचा था, जहां उस झी का नामकरण अरबी भाषा में **कागज** हुआ। अब वही कागज अरब से जब यूरोपीय बाजार में पहुंचता है, तो उस कागज का नामाकरण रोमन भाषा में **पेपर** (Paper) हो जाता है। लेकिन वही कागज जब अरब के तुर्कों द्वारा भारतीय बाजार में आता है तो भारत के भ्रमवंशी लोग उस कागज नाम को संस्कारित करना उचित नहीं समझते हुए उसी अरबी नाम के साथ कागज को अंगीकार करना उचित समझते हैं। ऐसा प्रतित होता है कि भ्रमवंशियों को भारत की सम्यक संस्कृति वाली पुरखों की भाषा से परहेज था, लेकिन यहां उसे अरब के तुर्कों की भाषा से परहेज नहीं था। अब भारत में अरबी भाषा का आगमन कब हुआ, इसकी जानकारी तो सभी पाठक को जरूर होगी। इन सभी बातों से स्पष्ट हो जाता है कि मुस्लिम शासन काल में भारत में कागज आया है और उसी कागज पर भ्रम भाटों ने बादशाहों के संरक्षण में भ्रम का पुलिंदा तैयार किया, जो आज सभी के मानस-पटल पर बैठकर तांडव कर रहा है।

॥ भवतु सब्बमंगलं ॥

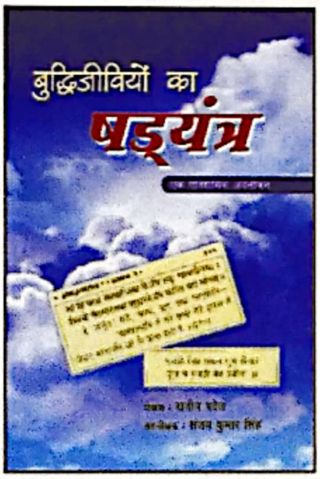
भ्रम वंशियों द्वारा अभी तक जितने भी लिखीत साक्ष्य उपलब्ध है वे सभी कागज की पाण्डुलिपि के रूप में हैं। आज समग्र शिक्षित वर्ग को पता है कि कागज का प्रथम अविष्कार विश्व में चीन ने किया था, जिसका नाम उसने झी (ZHI) रखा था। समाज और भाषा के विकास क्रम में वह झी चीन से सिल्क रास्ते से चलकर अरब देशों में पहुंचा था, जहां उस झी का नामकरण अरबी भाषा में कागज हुआ। अब वही कागज अरब से जब यूरोपीय बाजार में पहुंचता है, तो उस कागज का नामाकरण रोमण भाषा में पेपर (Paper) हो जाता है। लेकिन वही कागज जब अरब के तुर्को द्वारा भारतीय बाजार में आता है तो भारत के भ्रमवंशी लोग उस कागज नाम को संस्कारित करना उचित नही समझते हुए उसी अरबी नाम के साथ कागज को अंगीकार करना उचित समझे। ऐसा प्रतित होता है कि भ्रम वंशियों को भारत की सम्यक संस्कृति वाली पुरखों की भाषा से परहेज था, लेकिन यहां उसे अरब के तुर्को की भाषा से परहेज नहीं था। अब भारत में अरबी भाषा का आगमन कब हुआ, इसकी जानकारी तो सभी पाठक को जरूर होगा। इन सभी बातों से स्पष्ट हो जाता है कि मुस्लिम शासन काल में भारत में कागज आया है और उसी कागज पर भ्रम भाटों ने बादशाहों के संक्षरण में भ्रम का पुलिंदा तैयार किया, जो आज सबों के मानस-पटल पर बैठकर तांडव कर रहा है।

– राजीव पटेल

लेखकद्वय की अन्य रचनाएं



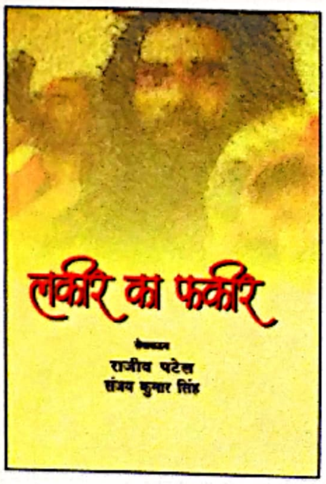
₹35



₹125



₹200



₹40

सम्यक प्रकाशन
32/3, पश्चिम पुरी, नई दिल्ली–110063
मो. : 9810249452, 9818390161
Email : hellosamyak1965@gmail.com Web : www.samyakprakashan.in
ISBN : 978-93-91503-14-7
₹ 250